सूची

अंतर्दर्शन

कहानी साहित्य का प्राचीनतम रूप है और सबसे अर्वाचीन रूप भी। मानव में जबसे वाणी का विकास हुआ तभी से कहानी का उद्‌भव भी समझना चाहिये। कुतूहल—आगे क्या होने वाला है? फिर क्या हुआ? यह जानने की भावना—मानव में आदि से ही प्रबल रही है। सुदूर प्रागैतिहासिक काल में जब मनुष्य गिरिकन्दरा-निवासी बर्बर एवं असभ्य ही रहा होगा तभी से कुछ अनहोनी या अभूतपूर्व बात सुनने की उत्सुकता उसमें प्रबल रही होगी। हिंसक पशुओं से बचने के लिए उसे आए दिन संघर्ष करना पड़ता होगा, या भीषण अरण्य के घनघोर अंधकार में आँधी झड़ी के बीच उसे अपना मार्ग अन्वेषण करना पड़ता होगा। अपने छोटे से परिवार से संमिलित होने पर वह अपने अनुभवों का जो अकृत्रिम वर्णन करता होगा उससे श्रोताओं में कुतूहल के साथ साथ रोमांच, हर्ष, विकलता, भय, आदि भावनाओं का संचार होता होगा। समाज की इस सहानुभूति ने अपने या दूसरों के अनुभव सुनाने के लिए प्रेरणा दी।

प्रारंभ में घटनाओं में सत्यता रहती होगी। पर ऐसी रोमांचकारी घटनाएँ प्रतिदिन तो घटती नहीं। अतः श्रोताओं के कुतूहल को बनाये रखने के लिए, अपने प्रति उनकी सहानु-

भूति को विशेष रूप से खींचने के लिए धीरे धीरे उसने अपने कथन को अतिरंजित करना, उसमें नमक मिर्च मिलाना, प्रारंभ कर दिया होगा। इसे ही हम साहित्यिक भाषा में यों कह सकते हैं कि उसने यथार्थ में कल्पना का भी पुट देना प्रारंभ कर दिया। कुतूहल जगाने में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना विशेष समर्थ होती है। अतः कल्पना ने यथार्थ के साम्राज्य को क्रमशः दबाते दबाते अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार यथार्थ और कल्पना के मेल से प्रागैतिहासिक काल में ही कथा का जन्म होगया होगा।

मानव समाज-प्रिय है और कहानी कहने सुनने की प्रवृत्ति उसकी समाज-प्रियता की सूचक है—साथ ही सामाजिक मनोरंजन का एक स्वाभाविक साधन भी। जाड़ों की बड़ी रातें काटने के लिए अलाव के चतुर्दिक् बैठे हुए बच्चों से नानी अब भी सात समुद्र पार की राजकुमारी या परियों की कहानी कहती हुई सुनी जाती है। लेखन-कला के विकास के पूर्व नानी की ये ही राजकुमारियों, परियों अथवा भूतों की कहानियाँ अथवा कवियों द्वारा गाई हुई वीर गाथाएँ ही हमें मुख-परंपरा से प्राप्त होती हैं। सभी युगों में सभी देशों में जनता ने अति उत्सुकता से कथावाचक का स्वागत किया है। बालक से वृद्ध तक, सभ्य हो चाहे असभ्य, सभी कथावाचक के जादू के वशीभूत हुए बिना नहीं रह सकते। कथा के प्रति एक विकल वासना से मानव सदा से अभिभूत रहा है। फलतः सभी देशों और

कालों में कथा कहने सुनने की इस परंपरा में कभी व्याघात नहीं पहुंचा।

अपने मूल रूप में कथा यथार्थ अथवा कल्पना के अतिरंजित वर्णनों द्वारा कुतूहल की अभिवृद्धि या मनोरंजन का साधन मात्र थी। सभ्यता के विकास के साथ साथ कथा का उपयोग भी बढ़ता गया और अब मनोरंजन क्रमशः कथा का उद्देश न रहकर साधन बन गया। विष्णुशर्मा ऐसे शिक्षा-शास्त्रियों ने हितोपदेश और पंचतंत्र में 'कथाच्छल' से नटखट राजकुमारों को राजनीति और राजतंत्र का समस्त आवश्यक ज्ञान सिखा दिया। इस प्रकार नैतिक उपदेशों के लिए और आगे चलकर धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण को बढ़ाने के लिए दृष्टान्त रूप में कथा के माध्यम का सहारा बहुत पहले से ही लिया जाने लगा था। प्रत्येक देश की धार्मिक रचनायें कथाओं से भरी पड़ी हैं। हमारे देश का धार्मिक साहित्य ही संसार के साहित्य का एकमात्र प्राचीन उपलब्ध रूप है। वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि सारगर्भित और रोचक दृष्टान्तों से रहित नहीं हैं। रामायण और महाभारत भी प्रधान-कथा के साथ दृष्टान्त रूप में आई हुई अनेक आख्यायिकाओं के भंडार हैं। बौद्धों के जातक ग्रंथों में कथाओं के द्वारा ही जीवन के तथ्यों का उद्घाटन करते हुए दया और करुणा की नदियाँ बहाई गई हैं। कहानी के उक्त प्रकार में कौतूहल उत्पादन द्वारा मनोरंजन के साथ साथ मानव-जीवन के तथ्यों का विश्लेषण कर नैतिक,

धार्मिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का रोचक वर्णन है। पश्चिम भी इस प्रकार की कथाओं के लिए भारत का ऋणी रहा है। पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियाँ अरबी और यूनानी भाषान्तरों द्वारा सारे यूरोप में फैल गईं। ईसप की कहानियाँ इन्हीं का रूपान्तर मात्र है। ईसा मसीह ने बाइबल में जिन दृष्टान्तों का उपयोग किया है वे भगवान् बुद्ध द्वारा कही हुई अनेक कथाओं के समानान्तर हैं। सावित्री ने अपनी तर्कपूर्ण मधुर वाणी से सत्यवान् को यमराज के लौह हाथों से बचा लिया था। इसी कथा की छाया हमें यूनान की लोक कथा में मिलती है जिसमें हरक्यूलीज ने मृत्यु के पंजे से 'एलसोस्टेस' को छुड़ाया है। आदि कवि वाल्मीकि के रामायण में वर्णित सीताहरण और लंका-युद्ध की ही पुनरावृत्ति सी यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर के 'ईलियड' काव्य की नायिका 'हेलेन' के अपहरण और ट्राय के युद्ध में प्रतीत होती है।

केवल कौतूहल प्रधान कल्पना की पराकोटि पर पहुंची हुई कहानियों के लिए प्रायः अरब देश के अलिफ-लैला या सहस्र-रजनी-चरित्र का नाम लोग ले लिया करते हैं। पर ऐसे महानुभाव भारतीय कथा साहित्य की अपारता से अपरिचित होते हैं। भारतीय साहित्य में पैशाची प्राकृत में लिखी हुई गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) सहस्र-रजनी-चरित्र की अग्रदूती प्रतीत होती है। अपने मूल रूप में यह पुस्तक प्राप्त नहीं है पर क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा-मंजरी, सोमदेव का कथासरित्सागर

आदि ग्रंथ इसी की संततियाँ हैं। वैताल-पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, शुक-सप्तति, आदि लोक-प्रिय कथा संग्रह इसी परंपरा में आते हैं। इनमें सहस्र-रजनी-चरित्र की भाँति कुतूहलोत्पादकता मात्र नहीं है वल्कि ये चरित्र का निर्माण करने वाली हैं। वाणभट्ट की कादंबरी और दंडी के दशकुमार-चरित्र की कथाओं के आधार पर वड्ढकहा या उसी की संततियाँ है। वर्णन-बहुलता और भाषा में आलंकारिकता का समावेश कर इन दोनों ग्रंथों को साहित्यक रूप प्रदान कर दिया गया है। इस प्रकार संभवतः संस्कृत के इन दोनों गद्य-काव्यों में हमें कथा का सर्व-प्रथम साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। कादंवरी मे आख्यायिका का जो चरम विकास दिखाई दिया उसके कारण आजकल इस प्रकार के कथा-साहित्य अर्थात् उपन्यास का नाम ही मराठी में 'कादंबरी' पड़ गया है।

क्रमशः देश पराधीनता के बंधन में कसता गया। जहाँ जनता को अपने धर्म और अपने अस्तित्व के लिए भी विधर्मियों और विदेशियों के साथ संघर्ष-रत्त होना पड़ा वहाँ सर्वांगीण वया एकांगी उन्नति की भी आशा कैसे की जा सकती थी। सर्वतोमुखी अवनति की ओर ही भारत अग्रसर होता गया। तब साहित्य का अछूता बच जाना कहाँ तक संभव था। अतः बीच की कई लम्बी शतियाँ कथा-साहित्य के इतिहास में, अंधकार-युग कही जा सकती हैं।

इन अंधशतियों के पश्चात् सहसा हम वर्तमान युग में आते

हैं। दीर्घकालीन निद्रा के उपरान्त जागरण में हमें सवत्र एक आलोक सा दिखाई दिया और इसी आलोक में कथा एक सर्वथा नूतन रूप में हमारे सामने दिखाई दी। कथा का जन्म भारत में हुआ, पली वह यहाँ; पर आज वह विदेशी साज शृंगार करके हमारे सामने आई है। एक शदी पूर्व पश्चिम स्वयं इस कहानी-कला से अनभिज्ञ था, पर सौ वर्ष के अल्पकाल में ही योरोप ने कथा के विकास में सर्वांगीण उन्नति कर ली है। इन पाश्चात्य कहानी लेखकों ने कथा को जीवन का वास्तविक चित्र माना है और इन छोटी छोटी कहानियों में जीवन की जो छोटी छोटी झांकियाँ दिखाई हैं, उनमें जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। हमारा देश जहाँ गतिहीन होगया—स्थिर होगया—वहाँ योरोप प्रगति-पथ पर वेग से अग्रसर होता गया। अतःवर्तमान रूप में कथा की उत्पत्ति पहले पश्चिम में ही मानना न्याय-संगत होगा। अब कहानी केवल कुतूहल की सर्जन ही नहीं है; न वर्णन-बाहुल्य वैचित्र्य-विधान भाषा की आलंकारिकता आदि की ही इसमें आवश्यकता है। अब कथा का आधार जीवन है, जीवन की जटिल समस्याओं का चित्रण है, जीवन की झांकियाँ है। जीवन के चित्रण मनोवैज्ञानिकता के आश्रित होते हैं आदर्श के आधार पर नहीं। पहले कहानी का आनन्द चमत्कार में, उत्सुकता की अभिवृद्धि और उसके आकस्मिक उद्घाटन में होता था—अब मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, अनुभूतियों की मधुरता, भावों के उत्थान—पतन का अन्तर्द्वन्द्व

में कथा का रस है। इस प्रकार आधुनिक कथा एक कुशल कला-पूर्ण एवं प्रयत्न-साध्य रचना के रूप में हमारे सामने आती है।

पहले कहा जा चुका है कि मनोरंजन अब कथा का उद्देश्य न रह कर साधन मात्र रह गया है। तब स्वभावत: प्रश्न यह होता है कि कहानी का क्या उद्देश्य होता है—कोई उद्देश्य होता भी है या नहीं। 'कला कला के लिए' का नारा लगाते हुए यथार्थ चित्रण के नाम पर मानव-समाज के पतन के फूहड़ एवं घृणास्पद चित्रों का अंकन करने वाले समाज के साथ ही अपने को भी धोखा देते हैं, क्योंकि कलाकार का सत्य इतना नग्न नहीं होता कि वह हमें अशिवत्व की ओर उन्मुख करे। वह सत्य केवल सुन्दर ही नहीं होता, शिव—मंगलमय—भी होता है।

प्राचीन आचार्यों ने हमारी वृत्तियों का संशोधन भी कविता के कई उद्देश्यों में से एक उद्देश्य बताया है। पर कविता गुरुवत् नीरस उपदेश देने नहीं बैठती। कविता द्वारा जो उपदेश हमें मिलता है वह तो 'गुड-प्रच्छन्नकटुकौषधिवत्, हमें रुचिकर प्रतीत होता है। काव्यप्रकाशकार की सुन्दर पदावली 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' में यह भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त है। गुड़ से ढकी हुई औषध—आज की 'शुगर कोटेड कुनेन'—की कटुता हमें नहीं प्रतीत होती पर गुण अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार कान्ता अपने सस्मित मधुर व्यवहार से इस प्रकार अपने प्रियतम को कुमार्ग से सुमार्ग

पर लेजाती है कि उसे उपदेशक की नीरसता का भान भी नहीं होता। यही बात कथा के संबंध में और भी अधिक स्पष्ट रूप से कही जा सकती है। कथाच्छल से तो कटु सत्य भी मधुर प्रतीत होता है। कथा लेखक अपनी भावुकता और कल्पना के सहारे एक ऐसा सजीव शब्द उपस्थित कर देता है कि पाठक के मनचक्षुओं के समक्ष उस कथा के दृश्य अभिनय से करते प्रतीत होते हैं और उन घटनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है। अनुभूति से जो लोकोत्तर एवं अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होता है उसे हम 'रस' कहते हैं। इस रस का मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है और यह हमारी मानवी वृत्तियों के विकास का कारण होता है। अतएव कथाकार का कर्तव्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण हो जाता है।

यथार्थ के नाम पर वासनाओं के नग्न-चित्रण पाठकों की मनोवृत्ति को दूषित पहले करते हैं, और कुछ बाद को। आज देश के सामने ऐसी गंभीर परिस्थितियाँ हैं जो उसे नाश की ओर लिये जा रही हैं। कथाकार उन परिस्थितियों को ठिकाने लगाकार देश को नाश से बचा सकता है। इसी प्रकार देश के सामने जो नई नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उनका भी उचित हल वह अपनी कहानियों द्वारा उपस्थित करता है। "वर्तमान जगत में उपान्यास और आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास और आख्या-

यिकाएँ उनका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करती, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं।" (आचार्य शुक्ल)

प्रस्तुत संकलन में पांच कहानियाँ हैं। इनके द्वारा जीवन के कुछ चित्र उपस्थित करके वर्त्तमान युग की गंभीर समस्याओं की ओर संकेत किया गया है।

पहली कहानी 'प्रतिशोध' भारत के उस दुर्भाग्य की कहानी है जब देश के विभाजन का बीज बोया जा चुका था। हूण, कुशान, शक, मंगोल; आदि बाहर से आने वाली जातियों को पचाने की-उन्हें आत्मसात् करने की—क्षमता वाली आर्य जाति इस्लाम को आत्मसात् न कर सकी। 'हिंदू' शब्द राष्ट्र-वाचक से धर्म या संप्रदाय का वाचक बन गया। कैकय (काकेशस) देश की कैकेयी और गान्धार (कन्दहार) की गान्धारी से ब्याह करने पर देश का धर्म रसातल को नहीं गया; पर कलाचन्द्र के शाहजादी से ब्याह करते ही वह धर्म च्युत, समाजच्युत होगया। कलाचन्द्र के शब्दों में ही—"कुत्सित विचारों से मनुष्य नीच बनता है और उच्च विचारों से वह उच्चता को प्राप्त होता है। मैंने कुत्सित बुद्धि से तो कोई कार्य किया नहीं; केवल शुद्ध अंतः करण का आदर किया है....।"

परन्तु उसके इन विचारो पर समाज ने कान नहीं दिया।

ऐसे ही असंख्य कलाचन्द्र जो कभी हिंदू धर्म पर स्वाभाविक निष्ठा रखने वाले थे, हमारी ही संकीर्णता के कारण काला-पहाड़ बन गये और आगे चल कर पाकिस्तान की नीव डालने वाले बनगए। हिंदू समाज ने अपने पैरों पर कुठाराघात किया और आज भी वह अपनी आँख बन्द किए है।

'मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति' को कहानी की अपेक्षा शब्द चित्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। पद, अधिकार और धन के मद में अंधे होकर मनुष्य मनुष्य के प्रति अत्याचार करते हुए अपनी मानवता को भूलकर पशुवत् हो जाता है इसका एक भुक्तभोगी के शब्दों में सुन्दर चित्रण है। और आज के जीवन में तो ऐसी घटनाएँ आए दिन देखने में आती रहती हैं। 'सभ्यता का युग' कही जाने वाली इस बीसवीं शती में ऐसे मानवों को मानव न कह कर 'मनुष्य रूप में पशु' ही कहना विशेष उपयुक्त होगा।

तीसरी कहानी 'भिखारी' भी मानव की अमानवता का ही दूसरा चित्र है। उस भिखारी को कष्ट में समझ कर गृह-स्वामी यदि केवल मनुष्य होने के नाते भी उसकी बात भर सुन लेने का कष्ट करता और भिखारी समझ कर उस मानव का तिरस्कार न करता तो संभवतः वह अपने मरणासन्न पुत्र की जान बचाने में समर्थ होसकता। पर आराम के साथ

जीवन व्यतीत करने वाले लोग दूसरे के कष्टों का अनुभव ही कहाँ कर पाते हैं। एक ओर तो है वह भिखारी जो दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिए अपने कष्ट की चिन्ता न कर जाड़े की रात में इतनी दूर दौड़ा दौड़ा सहायता प्राप्त करने के लिए उसके पिता के पास आता है—स्वार्थ के लिए नहीं परमार्थ के लिए; पर उसको मिलती है केवल दुतकार और—कहते हुए मानवता भी कुंठित हो जाती है—इस सत्प्रयत्न के पुरस्कार स्वरूप 'कंगले' को 'तोलाभर सीसा सीने में पार करने की धमकी'। दूसरी ओर है वह पूंजीपति जो स्वयं चैन की बंसी बजाते हुए दूसरे के कष्ट का अनुमान भी नहीं लगा सकता। स्यात् वह यह नहीं जानता था कि प्रकृति स्वयं उसकी इस क्रूरता का कठोर दंड देने के लिए सन्नद्ध है। क्या अच्छा होता यदि वह उसे केवल भिखारी समझ कर ही शरण और भोजन देने के लिए तत्पर होता! पर पूंजीपति तो चिथड़ों के नीचे जो जर्जर शरीर होता है उसे मनुष्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं समझते। विचारणीय यह है कि सभ्य गिना जाने वाला वह गृहस्वामी वस्तुतः मनुष्य है या वह भिखारी?

चौथी कहानी 'तलाक की छाया'। आज देश में सुधार के नाम पर नये नये विधान बनाये जा रहे हैं। कई बातों में हम

पश्चिम का अंधानुकरण करने पर तुल से गये हैं। यहाँ तक कि कुछ महानुभाव तो पश्चिम की अनेक बुराइयों के अभाव में भी अपने को पिछड़ा समझते हैं और विधान बनाकर उन बुराइयों को देश के ऊपर बलात् लादना चाहते हैं। 'तलाक' इसी प्रकार की वस्तु है। हमारे बहुत से अनुभवहीन सुधारक तलाक को एक मीठा फल समझे बैठे हैं, ठीक इस कथा की नायिका, अनुभव हीन बालिका 'नोवेल' के अनुसार ही 'तलाक तो सिर्फ एक विनोद मात्र है। बड़ी होने पर जब मेरा विवाह हो जायगा तब मेरी इच्छा है कि मुझे भी ऐसा ही तलाक मिले।' इस कहानी में तलाक के दुष्परिणाम का ही एक चित्रण है। तलाक के पश्चात् पति-पत्नी किसी को भी तो शान्ति नहीं मिलती है। सन्तान बेचारी की तो दुर्दशा ही समझिए—उसे दो दो घरों के होते हुए भी गृहहीन की भांति रहना पड़ता है। तलाक का संतान पर तो सब तरह बुरा ही प्रभाव पड़ता है। इस कहानी में तलाक पाए हुए माता-पिता की सन्तान की परिस्थिति और उसकी मनोभावना दोनों का चित्रण है। दूर से सुन्दर दिखाई पड़ने वाले इस तलाक रूपी गूलर के फल पर मुग्ध हो जाने वाले सुधारकों से कथानायक के शब्दों में हम यही कह देना पर्याप्त समझते हैं 'तलाक से किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती, उलटे रंज ही होता है।' सयानी होने पर नोवेल भी गंभीरता से

स्वीकार करती है, माइकेल, तुम सच कहते थे। तलाक कोई हँसी दिल्लगी नहीं। अब मैं अपने पिता और दादा के बिना सूनेपन का अनुभव करती हूँ।' अंतः माइकेल के शब्दों में हम भी उनसे यह कहे बिना नहीं रह सकते कि 'तुम्हें अभी इन बातों के समझने की अक्ल नहीं आई है।'

अंतिम कहानी 'भविष्य' में कथा की रोचकता और सरसता नहीं—केवल कुछ सिद्धान्तों का विवेचन मात्र है। मातृभाषा के संबंध में दोनों मित्रों की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'एक बार देश की स्वतंत्रता चली जाय तो कुछ परवाह नहीं। उसे हम वापस ला सकते हैं; परंतु भाषा की एक बार भी खोई हुई स्वतंत्रता फिर प्राप्त नहीं हो सकती।'

हिंसा और अहिंसा के संबंध में भी दोनों के विचार मननीय हैं; पर इसका अंतिम निर्णय संभव नहीं, अतः कहानी लेखक ने भी इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा न कर इसका निर्णय 'भविष्य' पर छोड़ दिया है। कुछ सिद्धान्त वाक्य बड़े सुन्दर हैं:—

'सिद्धि की अपेक्षा संकल्प में अधिक मिठास है।'

'यशोमंदिर की पहली सीढ़ी घर द्वार की देहरी है।'

'मुझे कुछ करना है और केवल अपने लिए नहीं सारे संसार के लिए करना है।'

परंतु कथा की दृष्टि से यह सफल कहानी नहीं कही जासकती; क्योंकि कहानी के अन्यतम साधन मनोरंजकता का इसमें अत्यन्ताभाव है।

संक्षेप में यही इन कहानियों की कहानी है।

× × ×

श्री वसंत पंचमी
संवत् २००५ विक्रमीय } गोपीकान्त पंडित

प्रतिशोध

(१)

सायंकाल का समय था। नीलाभ गगन-मंडल भाँति-भाँति के रंगों से विभूषित हो रहा था। पश्चिम दिशा में आरक्त सांध्य-मेघ छिटके हुए थे। अस्त होते हुए भगवान मरीचि-माली की स्वर्ण-रश्मियाँ तरु-शिखरों पर छिटक रही थीं।

ऐसे समय अनेक वृक्षों और लताओं के झुरमुट में एक उद्यान के अन्तर्गत सरोवर के मेंड पर बैठ कर एक सुन्दर युवा ब्राह्मण संध्यावंदन कर रहा था। उस सुन्दर जलाशय में स्फटिक मणि के समान शुभ्र-सलिल अनेक छोटी छोटी लहरों और तरंगो से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त मनोहर ज्ञात होता था।

उनमें क्रीड़ा करती हुई कमलिनी अपने कोमल हृदयो में मधुलुब्ध भ्रमरों को बंद कर रहीं थीं। परन्तु उन बेचारे लुब्धकों को इस बात की खबर ही न थी।

पुष्करिणी पर बैठा हुआ वह तरुण अपने नित्यकर्म में इतना लीन था कि उसको प्रकृति देवी की क्षण क्षण में परि-वर्तन शील नवीनता दिखलाई ही नहीं पड़ती थी। वह मन ही मन संध्या के मंत्र गुनगुना रहा था।

इस युवक की अवस्था कोई छब्बीस वर्ष की थी; परन्तु वह बल में अपनी अवस्था के अनुपात से कहीं अधिक था। अभी तक उसकी मसें भी नहीं भीगी थीं। वर्ण उसका गौर था और अंग अंग से तेज झलकता था। इन सब कारणों से उसका चेहरा अप्रतिम सुन्दर दीखता था। उसके काले काले बाल बंगवासियों के ढंग से सजाए हुए थे। वह आँखें बंद किए ध्यान में मग्न हो रहा था, इसलिए इस सायंकालीन नैसर्गिक रमणीयता को देखने में असमर्थ था। जिसका चित्त ईश्वर में लवलीन हो जाता है उसको भला पक्षियों का मधुर गान, पुष्पों की सुगंधि, वृक्षों और लताओं की नयनाभिराम शोभा और सब से बढ़कर रमणीय सायंकालीन आकाश का दृश्य, वे सब सुहावने क्यों कर जान पड़ें? परन्तु उस ईश्वर में लगा हुआ मन जहाँ एक बार चर सृष्टि की ओर आकृष्ट हुआ बस समझ लीजिए कि वह व्यक्ति किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है। तब उसको आप किसी प्रकार चलायमान नहीं कर सकते और उस व्यक्ति से—प्रयत्न करते हुए भी—कुछ करते नहीं बनता। अस्तु।

थोड़े ही समय के उपरान्त उस उद्यान में एक सोलह-सत्रह वर्ष की यवन बालिका विहार करने के लिए आई। उसके साथ एक दासी के अतिरिक्त और कोई नहीं था। वह नवयौवना बाला अप्रतिम सुन्दरी थी। उसकी पतली गुलाबी चादर उसके सौंदर्य को और भी प्रस्फुटित कर रही थी। उसका

मुख कोमल, सस्मित एवं सुन्दर था। जान पड़ता था कि उसकी सुन्दरता को बढ़ाने के ही निमित्त उसके आरक्त ललाट पर दो एक छोटी किंतु भौंरे की तरह काली काली घुंघराली अलकें लटक रही थीं। उसके रूप को सजाने में विधाता ने सारी बुद्धि खर्च करदी होगी—इसमें सन्देह नहीं।

वह बाला अपनी दासी के साथ घूमते फिरते उपर्युक्त पुष्करिणी पर आ पहुंची। वहाँ आते ही उसकी दृष्टि संध्यावंदन में निमग्न उस युवा पर जा पड़ी। उसके स्वरूप को देखते ही वह चकित होकर जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई।

उसको तो ऐसा जान पड़ा कि मानों वह युवा कोई देवदूत हो। उस समय उस युवक के नेत्र निमीलित एवं स्तब्ध थे। उस बाला ने धीरे से अपनी दासी से कहा—

"दिल, जरा देखो तो।"

दासी भौंचक्की सी होगई। वह चतुर थी अतएव उसे मतलब समझते देर न लगी। फिर भी उसने जान बूझकर देखी अनदेखी करके कहा,

"क्या ?"

"क्या तू इतनी अन्धी है ? वह देख वह युवक तुझे दिखाई देता है या नहीं ?"

बालिका के कपोलों पर लज्जा की लालिमा दौड़ गई, उसकी

दृष्टि निरन्तर उस तरुण की ओर लगी हुई थी। दासी से 'नहीं' कहते न बना। उसने कहा—

"देखा तो; परन्तु हमें उससे क्या करना है, वह तो एक काफिर है।"

"वह काफिर हो या कोई हो, मुझे तो वह बहुत प्रिय मालूम पड़ता है। मैं तो इसी प्रकार उसे देखती रहूँगी।"

बालिका इतना कहकर कुछ देर रुक गई, पर फिर कोमल स्वर से दासी से बोली,

"दिल, तुम से सत्य कहती हूँ मैंने आज तक ऐसा युवक कभी नहीं देखा।"

वह आगे कुछ कहना चाहती थी; परन्तु रुक गई और दासी के मुख की ओर उत्सुकता से देखने लगी। वह समझती थी कि दासी मेरे कथन का अनुमोदन करेगी।

परन्तु दिल ने उसका उत्तर न देकर उसीसे प्रश्न किया,

"सिर्फ सुन्दरता पर ही मुग्ध होकर बीवी साहबा को क्या ऐसा करना उचित है। आप क्या कम सुन्दरी हैं? फिर न जाने यह कौन है? कहाँ का है?"

"परन्तु इससे अधिक परिचय की आवश्यकता ही क्या है? वैसे ही इसकी आकृति से और इसके शरीर पर स्थित अनेक अलंकारों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह व्यक्ति

अत्यन्त समृद्ध और योग्य होगा, इसमें सन्देह तो है ही नहीं। तू ही देख यह कुछ मंत्र पढ़ रहा है, इससे क्या यह विद्वान् नहीं ज्ञात होता ? इसके अतिरिक्त इसके शरीर की गठन देखते हुए यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि यह बलशाली है।"

दिल उसकी बातों का क्या उत्तर देती ? उसको इस प्रश्न का उत्तर ही न सूझा, फिर स्वयं धर्मनिष्ठ होने के कारण उसको ऐसा करना उचित न जान पड़ा, खिन्न होकर कहा—

"परन्तु, वह तो हिन्दू है न ?"

उस मुग्धा तरुणी ने दृढ़ स्वर से कहा,

"होवे न दिल, उससे क्या होता है !"

इस समय प्रकृति देवी अपने दिनकर दीप को अस्त करके धीरे धीरे काली साड़ी पहन रही थी, आकाश में तारे चमकने लगे थे; परन्तु चन्द्रमा अभी तक नहीं निकला था। अपना नित्यकर्म समाप्त कर चुकने पर वह युवक धीरे धीरे उद्यान से बाहर चला गया, परन्तु उस समय सारा संसार अंधकार मय होगया था। उसको कहीं भी प्रकाश नहीं दिखलाई देता था। बेचारे युवक को इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि उसके ऊपर क्या बीतने वाली है।

(२)

हमारे इस कथानक की घटना के समय वंगदेश की राजधानी

गौड़ में सुलेमान नाम का एक अफगान बादशाह राज्य करता था, उसकी शासन पद्धति प्रजा के अनुकूल थी, इस कारण उसके शासन काल में लड़ाई-झगड़े इत्यादि बहुत कम हुआ करते थे। वह हिन्दुओं को उचित सम्मान एवं प्रतिष्ठा देता था और उनको ऊंचे ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित करता था। मनुष्यों की उसे बड़ी अच्छी परख थी, व्यर्थही किसी के मन को दुखाना उसे पसन्द न था, परन्तु वह किसी किसी काम में बहुत उतावली कर बैठता था जिससे कभी कभी उसके हाथ से अन्याय हो ही जाता था। परन्तु इतना होते हुए भी उसका अंतः करण निर्मल और दयालु था।

उन दिनों के रिवाज के अनुसार सुलेमान बादशाह की अनेक बेगमें थीं, परन्तु उन सब में केवल एक के एकमात्र कन्या ही थी। उसका नाम दुलारी था। वह बचपन से ही सब को प्यारी थी और साथ ही सद्गुणवती भी थी। वह सब के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करती जिससे सभी उससे प्रसन्न रहते थे। अन्तःपुर की प्रत्येक स्त्री को वह हृदय से प्यार करती थी। रूप में तो परियों को भी लजाने वाली थी; परन्तु उसको अपने रूप का घमंड छू भी न गया था। अपनी दासियो के साथ भी शाहजादी हेलमेल से रहती थी, परन्तु दिल नामक एक दासी पर उसकी विशेष प्रीति थी।

बादशाह को प्रकृति-सौंदर्य से प्रेम था, अतएव उसने शहर

में अनेक विहारोद्यान वनाए थे जो निरन्तर सुन्दर एवं सुशोभित वृक्षों, लताओं तथा फल-फूलों से भरे पुरे रहते थे। इन अनेक उद्यानों में से बादशाह ने दुलारी के लिए भी एक पृथक् अति मनोहर और रम्य उद्यान वनाया था। शाहज़ादी नित्य ही वहाँ टहलने के लिए जाती थी। वह उद्यान उसको वहुत ही प्रिय था।

बादशाह ने अपनी प्यारी एकलौती कन्या को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर होशियार किया था। परन्तु वह ज्यों ज्यों वढ़ती गई त्यों त्यों उसके विवाह की चिन्ता होने लगी। कारण कि जिससे सम्वन्ध करना हो वह अपनी वरावरी का होना चाहिए। मुसल्मान और हिन्दू दोनों के आचार व्यवहार में वड़ा अन्तर है। और परम्परा ही ऐसी चल गई है कि परस्पर व्याह-शादी नहीं हो सकते। इस कारण अनेक वार भयंकर क्षति उठानी पड़ी है। कभी कभी अपने सम्मान पर भी वट्टा लग जाता है। परन्तु इस ओर कोई विशेष ध्यान भी नहीं देता। अस्तु, शाहजादी अव सत्रह अठारह वर्ष की होगई थी, परन्तु वादशाह उसका विवाह कहीं भी नहीं ठहरा सका।

इसी समय एक विलक्षण घटना हुई, जिसके द्वारा वादशाह की चिन्ता दूर होगई और शाहजादी सुखी हुई। पाठकों को शनैः शनैः उस घटना का ज्ञान हो जायगा।

× × ×

कलाचन्द्र अथवा कालाचांद एक उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मण था।

इसके ही वंश में इससे पूर्व जगदानंदराम नाम के एक प्रसिद्ध पुरुष होगये थे। इस कारण कलाचन्द्र से भी सभी परिचित थे। वह अतिशय बलवान्, बुद्धिमान एवं रूपवान युवक था। बंगला एवं फारसी दोनों भाषाओं में उसकी अच्छी जानकारी थी। यद्यपि संस्कृत वह बहुत नहीं जानता था तोभी संस्कृत के अनेक श्लोक उसे कंठस्थ थे। उस समय की अत्यन्त उपयोगी शस्त्रविद्या एवं अश्वारोहण कला में तो वह अत्यन्त निपुण था। इसमें सन्देह नहीं कि कलाचन्द्र अत्यन्त कार्यकुशल एवं सदाचारी युवक था।

गौड़ाधिपति सुलेमान बादशाह को यह विदित होते ही कि कलाचन्द्र एक होनहार युवक है उसको अपनी फौज में रख लिया। बादशाह गुणीजनों का सम्मान करता था। इस कारण कलाचन्द्र पर उसकी विशेष प्रीति होगई थी। कलाचन्द्र भी बादशाह की गुणग्राहिता से भलीभांति परिचित था।

शनैः शनैः उन्नति करते करते अपने अद्भुत पराक्रम और गुणों के बल से कलाचन्द्र शीघ्र ही सेनापति के पद पर पहुंच गया। परन्तु उसको अपने पद का अभिमान लेशमात्र भी न हुआ वह लोगों से पहले की ही भांति व्यवहार करता था। अपना नित्यकर्म संपादन करना तो इसने तब भी न छोड़ा था। प्रत्युत इन पर इसकी और भी आस्था बढ़ी। प्रतिदिन सायं-प्रातः अत्यन्त एकान्त स्थान में जाकर वह

एकाग्रचित्त से संध्यावन्दनादि किया करता था। ऐसे ही एक अवसर पर सुन्दरी दुलारी ने उसे देखा था। शाहजादी ने उसको देखकर उसके साथ विवाह करने का निश्चय कर लिया। परन्तु कलाचन्द्र को इस बात की कुछ भी खबर न थी। उसका ध्यान इस ओर था ही नहीं। वह बेचारा तो अपने कर्तव्य में मग्न था। यद्यपि कलाचन्द्र चतुर था तथापि वह अन्तःपुर के रंगढंगो से एकदम अपरिचित था—और वस्तुतः इसओर अभी तक उसका लक्ष्य भी नहीं हुआ था।

शाहजादी की इच्छा यथासमय दासी के द्वारा उसकी माँ को—बेगम साहबा को—और उसके द्वारा बादशाह को विदित हुई। पहले तो उसे कुछ बुरा लगा। परन्तु लड़की पर उसकी अतिशय प्रीति थी और कलाचन्द्र भी उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मण था—और साथ ही एक बड़े सम्मानित पद पर अधिष्ठित भी। इन कारणों से बादशाह को यह बात कुछ अनुचित भी न जान पड़ी। उसने इस सम्बन्ध से कलाचन्द्र से परामर्श करने का निश्चय किया। परन्तु उसने कोई उतावली नहीं की। सेनापति को तो वह अच्छी तरह जानता था। तो भी कलियुग में ऐसे मनुष्य बहुत कम मिलेंगे जो कनक और कान्ता इन दोनों पदार्थों पर मुग्ध न हों। बादशाह इस बात से पूर्णरूपेण अवगत था। उसको इस बात का पूर्ण निश्चय था कि ज्यों ही कलाचन्द्र के सामने यह विचार रखा जायगा वह अवश्य ही इस पर अपनी स्वीकृति दे देगा। इन सब कारणों से बादशाह

ने कलाचन्द्र को अपना दामाद बनाने का निश्चय कर लिया।

(३)

लगभग एक प्रहर रात्रि व्यतीत हुई होगी। सेनापति कलाचन्द्र अपने नवीन महल के विशाल दिवानखाने में बैठा हुआ कोई पुस्तक लेकर पढ़ रहा था। इतने में उसके लिए बादशाह का बुलावा आपहुँचा। पहले तो उसको कुछ आश्चर्य हुआ। परन्तु वह बादशाह के स्वभाव से पूर्णतया परिचित था। इस कारण उसने सोच विचार में ही व्यर्थ समय खोना अनुचित समझ कर शीघ्र कपड़े पहने और तुरन्त राजभवन को चला। इतने में उसको ज्ञात हुआ कि बादशाह अपने खास महल में ही मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस समय कहीं युद्ध-विग्रह आदि न होने के कारण वह इस बात का निश्चय न कर सका कि आज कौनसा ऐसा गुप्त काम आ पड़ा है जिसके लिए बादशाह ने, इतनी रात गए, और वह भी अपने अन्तःपुर में ही, मुझे परामर्श करने को बुला भेजा है। ऐसा विचार करता हुआ वह जहाँ बादशाह उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे वहाँ आ पहुंचा। आते ही उसने अत्यन्त नम्रता से बादशाह को सलाम किया।

सेनापति के इस शिष्टाचार को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हुए बादशाह ने कहा,

"कलाचन्द्र अभी तक तुम्हारा विवाह नहीं हुआ, है न ?"

"हाँ सरकार, मैं अभी अविवाहित ही हूँ ।"

"सब कुछ तुम्हारे अनुकूल होते हुए भी तुम इस प्रकार अविवाहित क्यों रहे ?"

कलाचन्द्र को यह प्रश्न सुनकर आश्चर्य हुआ । आज बादशाह इतना खोद खोद कर मुझ से यह प्रश्न क्यों कर रहे हैं, यह बात किसी तरह भी उसकी समझ में नहीं आई । कुछ देर चुप रहने के अनन्तर उसने कहा,

"महाराज, इस विषय से संबंध रखने वाली बातचीत आप मुझ से न पूछते तो अच्छा होता ।"

तुम लज्जित मत होओ । तुम बुद्धिमान एवं होनहार होने के साथ ही बड़े शूरवीर भी हो । मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि किसी तरह तुम्हारा भला हो—समझे न ? विवाह के काम में कभी कभी तुम्हारे समान युवक धोखा खा जाते हैं ।"

"महाराज, क्या कहूँ । विवाह के विषय में प्रत्येक को स्वतन्त्रता होनी चाहिए । जिसके साथ आजीवन रहना है और जो भावी सुख दुःख की सहभागिनी होने वाली है उस को पति इच्छानुसार पसन्द क्यों न करले ? मैं तो ऐसी ही स्त्री से विवाह करूँगा जो मेरी रुचि के अनुकूल हो ।"

कलाचन्द्र ने अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया । इस पर बादशाह कुछ देर चुप रह कर बोला—

"सेनापति यदि तुम्हारा विवाह किसी शाहजादी से कर दिया जाय तो क्या तुम सहमत होगे ?"

कलाचन्द्र चकित हो गया, इस अनपेक्षित प्रश्न को सुनकर उसको महान् आश्चर्य हुआ। बादशाह के इस प्रश्न पर कुछ देर विचार करने के बाद एकाएक उसको एक ख्याल आया, कि बादशाह की एक प्यारी कन्या विवाह योग्य होगई है। परन्तु वह अपने मन के अनुकूल कैसे हो सकती है ? इसके अतिरिक्त वह भिन्न-धर्मावलंबिनी है, उसके साथ विवाह कैसे हो सकता है ? उसने इस बात पर बहुत विचार किया; परन्तु धर्म-विमुख आचरण करना उसको निंद्य जान पड़ा। उसने गंभीरता पूर्वक बादशाह से कहा—

"सरकार क्षमा कीजिए। मुझ में इतनी योग्यता नहीं। इसके अतिरिक्त धर्म-विमुख आचरण करना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। अतएव आप किसी भी शाहजादी से विवाह करने का आग्रह मुझ से न करें तो अच्छा। मैं इस बात को स्वीकार नहीं कर सकूंगा।"

यह उत्तर सुनकर बादशाह स्तब्ध हो गया। इस बात की उसे कल्पना भी न थी कि कलाचन्द्र मुझे ऐसा उत्तर देगा। उसकी इन बातों से बादशाह को क्रोध हो आया। उसने कठोर स्वर में कहा—

"कलाचन्द्र तुमने खूब सोच-विचार कर उत्तर दिया है न ?"

कलाचन्द्र ने शान्ति से उत्तर दिया—

"सरकार, आपके इस सेवक ने कभी कोई काम विना विचारे नहीं किया। मुझ को मेरा धर्म प्रिय है। अतएव इस संबंध में महाराज को क्रोध करना उचित नहीं।"

इन बातों से बादशाह की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। उसने जोर से जमीन पर पैर पटक कर कहा—

"अफसोस, यह काफिर इतना नीच होगा ऐसा मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। मुझसे इतना उद्धतपना! हुं!! शिराज खाँ!!!"

उस दिवानखाने से एक वृद्ध परन्तु खूब हृष्ट-पुष्ट भीमकाय अफगान आया और सलाम करके खड़ा होगया। वह चकित होगया था।

कलाचन्द्र अत्यन्त शान्ति से इधर उधर देख रहा था। उसने समझ लिया कि अब इस संसार में मेरा अस्तित्व मिटा। तो भी वह धैर्यशाली युवक तनिक भी उदास नहीं हुआ।

बादशाह ने शिराज खां को आज्ञा दी,

"इस मनुष्य को कैद करो। बादशाह के कथन को अमान्य करने का क्या दंड मिलना चाहिए यह सब लोग अच्छी तरह समझलें। प्रातःकाल इसका न्याय करके इसको उचित दंड दूँगा। जा, ऐसे देखता क्या है? इसको लेकर जाता क्यों नहीं?"

शिराज खां बेचारा विवश था। बादशाह की आज्ञा मानने को बाध्य था। कलाचन्द्र को वह अच्छी तरह जानता था और उस पर उसकी अत्यन्त प्रीति थी। परन्तु वह करता क्या? इस समय वह कैद करने को विवश था।

कलाचन्द्र तब भी शान्त था। उसका चित्त जरा भी विचलित न हुआ। डरकर होता भी क्या है। जो होनहार है वह तो होता ही है। परन्तु ऐसे प्रसंग में धैर्यच्युत न होना ही शूरों का कर्तव्य है।

× × ×

प्रायः प्रहर भर दिन बीता होगा। वह देखो, सामने रास्ते पर इतनी भीड़ कैसी! प्रत्येक व्यक्ति उत्सुकता से उसी दिशा की ओर देख रहा था। प्रत्येक के चेहरे से उदासी टपकती थी। सब गलियाँ मनुष्यों की भीड़ से भर गईं थीं। कोई कोई गुनगुना रहे थे—

"अहा, यह तो बड़ा बुरा हुआ। सेनापति के समान मनुष्य बहुत कम होते हैं। युवा होते हुए भी कितना बुद्धिमान है।"

इतने ही में बाजा बजने लगा और सामने ही हृदयविदारक शब्द सुनाई पड़े।

"हमारे परम पूजनीय बादशाह की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण आज सेनापति कलाचन्द्र को फाँसी की सजा

दी गई है और उसे लोग वध-स्थान की ओर लिए जारहे हैं। अतएव कोई उसपर सहानुभूति न दिखलावे। राजाज्ञा अनुल्लंघ्य है। उसका अनादर करने वाले के लिए जो दंड निश्चित हुआ है वह उपयुक्त ही है। इस पर किसी को असन्तोष करने का कोई कारण नहीं है।"

उसका कथन पूरा भी न होने पाया था कि इतने ही में एक गली से दौड़ती हुई कोई सुकुमार स्त्री वहाँ आ पहुँची। वह स्त्री और कोई नहीं स्वयं शाहजादी दुलारी थी। उसको देखते ही लोग अत्यन्त चकित हो गये। यह सब क्या हो रहा है यह उनको कुछ न जान पड़ा। शाहजादी का वेष अत्यन्त सादा था और उसके नेत्रों से बराबर आँसुओं की धारा बह रही थी। वह ठीक उसी स्थान पर जा पहुँची जहाँ कलाचन्द्र को वधस्थान में लेजाने के लिए नियत्त किए हुए सिपाहियों का मुखिया शिराज खां खड़ा था। शिराज ने उसको सलाम किया और कलाचन्द्र के पास वैसे ही स्तब्ध भाव से खड़ा रहा। कलाचन्द्र की मुद्रा अब भी निर्विकार थी; परन्तु शाहजादी को देखते ही वह चकित होगया, और वह शिराज खां से क्या कहती है यह सुनने के लिए वह उत्कर्ण होगया। शाहजादी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा—

"शिराज तुमने मुझको बचपन से अपने कंधे पर चढ़ाया है, अपनी गोद में बैठाकर खिलाया है और मुझ पर तुम्हारा

पुत्री के समान प्रेम है। अतः मेरा इतना कहा सुनो। बिना मुझे मारे—बिना मेरा जीवन नष्ट किए—इस निरपराध युवक का स्पर्श भी मत करो।"

शिराज खां वयोवृद्ध था। साथ ही उसका हृदय अत्यन्त कोमल था। राजकन्या के इस करुण भाषण को सुनकर उसके नेत्रों से—शुष्क नेत्रों से—आँसू बहने लगे, और उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों से एकबार कलाचन्द्र की ओर देखा। कलाचन्द्र का मन भी पानी में डाले हुए मिश्री के कण की तरह पिघल गया। शाहजादी अत्यन्त करुणापूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देख रही थी। उसने कलाचन्द्र को अपने प्रगाढ़ प्रेम सौन्दर्य और उदारता से अपने ही समान कर दिया। कलाचन्द्र को स्त्री के हृदय की और उसके प्रेम की परख नहीं थी। आज वह इससे पूर्णतया परिचित होगया। स्त्रियाँ कैसी होती हैं यह आज उसकी समझ में आगया। कलाचन्द्र ने गद्गद वाणी से शाहजादी से कहा—

"हे सुन्दरी राजकन्ये, तू मुझको प्रत्यक्ष देवी सी जान पड़ती है। मृत्यु के द्वार पर पहुँचे हुए मुझ गरीब को बचाने के लिए तूने कितना बड़ा साहस किया? यदि इस समय मेरे वश की बात होती तो मैंने तुझे अपनी देह ही अर्पण कर दी होती। परन्तु दंड भोगना आवश्यक है। अतएव तू जा। ईश्वर तुझे सुखी करे।"

शाहज़ादी ने कुछ भी उत्तर न दिया। उसको अननुभूत आनंद प्राप्त हुआ। इतने ही में यह समाचार सुन कर बादशाह वहाँ आपहुंचा और अपनी प्रिय कन्या को बड़े प्रेम से छाती से लगा लिया और कहा—

"मेरी प्यारी लड़की, बादशाह जिस काम को न कर सका वही काम तूने इतने अनायास ही कर दिखाया",

फिर कलाचन्द्र की ओर मुड़ कर बादशाह ने कहा,

"कलाचन्द्र, इस बात का बुरा मत मानो। मेरा स्वभाव तुमको ज्ञात ही है। जिस बात से मेरी इस प्रिय पुत्री को सुख मिले उसी में मेरा सुख है। चलो शिराज खां, सेनापति को बड़ी धूमधाम से महल में लाओ। आज मेरे आनन्द का पारावार नहीं।"

कलाचन्द्र इस आनन्द और दुख के सम्मिश्रण से पागल सा होगया। परन्तु वह विचारवान था, अतएव उसने अपने चलायमान मन को शीघ्र ही शांत कर लिया। उसी दिन रात्रि को बड़े समारोह और धूमधाम से कलाचन्द्र का शाहज़ादी के साथ हिन्दू रीति से विवाह होगया। इस प्रकार पवित्र प्रेम ने अधिकार पर जय प्राप्त की।

(४)

यद्यपि कलाचन्द्र ने शाहज़ादी से विवाह किया तथापि उसने मुसलमानी धर्म को बिलकुल स्वीकार नहीं किया।

इतना होते हुए भी समाज ने उसका बहिष्कार कर दिया और उसके घर के ही मनुष्य उसका अनेक प्रकार से तिरस्कार करने लगे। घर के मनुष्यों के विशेष आग्रह करने पर उसने प्रायश्चित्त भी किया। परन्तु समाज ने उसको किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया। हिन्दू धर्म पर उसकी स्वाभाविक निष्ठा थी। उसने यह धर्म नहीं छोड़ा।

वह फिर अपने हिन्दू धर्मावलंबियों के पास आया। उसने अनेक प्रकार से समाज की प्रार्थना की। उसने कहा—

"कुत्सित विचारों से मनुष्य नीच बनता है और उच्च विचारों से वह उच्चता को प्राप्त होता है। मैंने कुत्सित बुद्धि से तो कोई कार्य किया नहीं, केवल शुद्ध अंतःकरण का आदर किया है। प्रेम से एकता बढ़ती है कि नहीं इस सिद्धान्त की मैंने परीक्षा की।" इत्यादि इत्यादि।

परन्तु उसके इन विचारों पर किसी ने कान न दिया। उलटे जहाँ तहाँ उसका अपमान करने लगे।

अब उसका शांत और विचारपूर्ण स्वभाव पलटा। वह बहुत खीझ गया। हिन्दूधर्म से उसकी श्रद्धा छूट चली। अतएव उसने मुसलमान धर्म स्वीकार कर अपना नाम मुहम्मद रख लिया। इसी क्रोध के आवेश में आकर उसने हिन्दूधर्म का उच्छेद करने की भीषण प्रतिज्ञा की। इतिहास कहता है कि उसके भयंकर अत्याचार के कारण हिन्दू लोग उसको "काला पहाड़"

कहने लगे थे और वह उसी नाम से प्रसिद्ध होगया। इस प्रकार हिंदू स्वयं अपने पैरों पर कुठाराघात करते थे। परन्तु समाज अब भी अपनी आँखें बंद किए है। इन सुधारों की ओर उसका ध्यान नहीं है।

न जाने कब ईश्वर उन्हें सुबुद्धि देगें और वे अपनी संकीर्णता छोड़ेंगे।

मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति

हाँ, तो आपने सुना। मुझे मेला देखने का बहुत शौक है। जिस पर भी कालेज की छुट्टी। मेरे शहर से चार मील था मेला।

पैदल ही जा रहा था। क्या करता? लक्ष्मी की अकृपा थी मुझ पर। यह मेला मुख्यतः चतुष्पादों का था। गायों, भैंसों और बैलों का क्रय-विक्रय जोर शोर से हो रहा था। एक दो साल से धीरे धीरे "ड्यूटी-फ्री" होजाने से वहाँ सब तरह का मेला लगा करता था।

सचमुच मेला तो चतुष्पादों का था, पर वहाँ द्विपादों की भीड़ कहीं अधिक थी। इतना बड़ा जमघट था कि सड़कें सब टसाटस भरी हुई थीं और उसपर मोटर, तांगे, बैलगाड़ियों और ऊँटगाड़ियों का तांता लगा था। फिर क्या कहना?

मैं चला जारहा था, मेरा ध्यान मेले की ओर लगा था इसलिए पीछे की ओर घूमकर देखता भी न था। एकाएक तांगे के बम का धक्का पीठ में लगते ही मैं गिर पड़ा। इतना ही नहीं—

"गधे का बच्चा, सूअर, देखता नहीं कि तांगा आरहा है" आदि आशीर्वादों की ऊपर से और वर्षा हुई।

उठकर देखने लगा, तांगे में कोई बड़े "अप-टु-डेट" बैठे थे।

"क्यों वे ? देखता नहीं मैं तो अपने बाएँ चल रहा हूँ, फिर मुझ पर तांगा क्यों लाया ? चल, अभी पुलिस में रिपोर्ट करता हूँ ।" मैंने जरा तेज होकर कहा ।

"पुलिस में !" तांगेवाला हँसने लगा । "जानता है ये कौन साहब हैं ? सब-इन्सपैक्टर पुलिस हैं । और तांगा तो मुझे रोकना ही पड़ता । देख, पीछे से डी. एस. पी. की मोटर आरही है ।"

मैं अब समझा कि तांगेवाले को किसका बल है ।

इतने ही में एक मोटर पों-पों करती जल्दी से आगे बढ़ गई—पथिकों की त्राहि त्राहि और अपने को बचाने का यत्न करने की उपेक्षा करते हुए । पर शोफर इधर भला क्यों कर देखने लगा । वह डी. एस. पी. का शोफर जो था । यह क्या मामूली बात थी । एक्सीडैंट होता तो भी उसका कोई क्या बिगाड़ सकता था ।

मोटर में बैठे हुए डी. एस. पी. के ध्यान में यह सब वृत्तान्त आना नितान्त अशक्य था । वे समाचार पत्र पढ़ने में लगे थे । उनका प्रत्येक मिनट कीमती था । क्लब में ब्रिज का खेल उनकी राह देख रहा था ।

मोटर निकल गई । तांगा भी चला गया । पीठ की हड्डी सही सलामत रहने के कारण ईश्वर का आभार मानकर मैं आगे चलने लगा ।

× × ×

मेले में पहुंचा। बहुत ही सुन्दर बाजार भरा था। पीठ का दर्द भी भूल गया। मेले की माया थी।

एक हलवाई की दुकान के सामने एक बड़े साहब अपने छोटे लड़के के लिए कुछ खरीद रहे थे। लड़का भी मिठाई के लिए उतावला हो रहा था। उसने एक मिठाई के थाल पर हाथ बढ़ाया और थाल भी कूद कर नीचे आगया। मिठाई मिट्टी में मिल गई। लड़के के कपड़े खराब होगये।

"जाने दीजिए साहब! बच्चा ही तो है। कुछ चिन्ता नहीं, सब अपना ही तो है।" झूठ-मूठ के लिए भोली भाली सूरत बना कर और हँसने का प्रयत्न-सा करते हुए हलवाई ने लड़के का पक्ष लिया। लड़के के कपड़े खराब होगये। फिर भी उसके लिए दुकानदार को क्षमा करने की उदारता दिखाकर वे साहब आगे बढ़े।

मैं समझता था कि साहब दुकानदार का नुकसान भरपाई कर देंगे। लेकिन यह अनुमान गलत निकला।

× × ×

सड़क के दोनों ओर लोग सामान खरीदते और शोभा देखते चल रहे थे। स्थान स्थान पर दुकानों के सामने पानी का छिड़काव हो रहा था। एक आदमी पैसों की जोड़ी लिए

जा रहा था। उसमें से एक बैल बिगड़ गया। लोग इधर उधर भागने लगे। मुझे भी धक्का लगा और पैर फिसलने से मैं कपड़ों के एक ढेर पर आ गिरा। कुछ कपड़े नीचे कीचड़ में गिर पड़े और उन पर दाग लग गए।

"सुअर, गधा, अंधा है" आदि यथायोग्य उपाधियों की मुझपर वृष्टि हुई। नुकसान भरपाई मांगा गया। पर मेरे पास था क्या ?

और पुलिस में लेजाया गया।

मेले की पुलिस चौकी केवल एक तंबू था। भीतर इन्स्पैक्टर साहब अपने एक मित्र के साथ चाय-पान में मग्न थे। इसलिए मेरी 'रपट' उस समय न हो सकी।

मुझे बाहर ही बैठा दिया गया। पौन घंटे में इन्स्पैक्टर साहब बाहर आए। मुझे जो सिपाही लाया था वह चिलम पी रहा था। वह चिलम का मोह न छोड़ सका और साहब "राउंड" पर चले गये। सब जगह मेले में रोशनी होगई थी।

६ बजे रात को साहब लौटकर आए। 'रिपोट' दीगई। दूसरे दिन ६ बजे हाजिर करने का हुक्म हुआ।

तब तक ? हवालात ! उपवास !!

मेरे पास पैसे न थे। सब तरह से निराश होने के कारण

मेरा साहस यहीं टूट गया। सारी रात ईश्वर-प्रार्थना में ही काटी। और न मालूम कब सवेरा हुआ।

इधर दैव-संयोग से इन्स्पैक्टर के पास मेरे परिचित एक सज्जन आये। वे इन्स्पैक्टर के घनिष्ट मित्र थे और उन्हीं की कृपा और प्रयास से मुझे छोड़ दिया गया।

लौटते हुए मेरे मन में विचार आए—"मैं गधा, सूअर आदि। मेरी गलती न होते हुए भी मैं ही अपराधी था। कितना आश्चर्य? और सच्चे अपराधियों को सजा नहीं। ऐसा क्यों हुआ? ऐसे अन्याय होते क्यों हैं? और ये अन्याय पच भी कैसे जाते हैं? उन लोगों से भला कोई क्या कह सकता है जो अन्याय को समझ नहीं सकते?"

पास ही के घर में से एक लड़का जोर जोर से संस्कृत का एक वाक्य रट रहा था—

"मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति" यह वाक्य मेरे कानों में गूंज उठा।

और मेरा अनुमान है कि मेरे विचारों का सही उत्तर भी यही है।

भिखारी

संध्या होगई थी। भिखारी सड़क के किनारे एक खन्दक के पास खड़ा होगया और इधर उधर देखने लगा कि कोई कोना दिखाई दे जिससे वहाँ पड़ा रह कर वह रात काट दे। ओवर कोट समझो चाहे और कुछ—एक बोरा सा उसके पास था। उसी में वह घुस गया। लाठी के सिरे पर एक गठरी सी बांध कर कन्धे पर उठा रखी थी। तकिए की जगह उसे सिर के नीचे रख लिया। थकान से वह चूर चूर हो रहा था। परन्तु भूखा जो था। वहीं पड़े पड़े नीले आकाश के तारों को एक एक कर चमकते हुए वह देखने लगा।

सड़क के दोनों ओर भयावना जंगल था। वृक्षों पर चिड़ियाँ नींद में चुपचाप थीं। बहुत दूर पर एक गाँव काले धब्बे के समान दिखाई दे रहा था। इस सन्नाटे में चुपचाप लेटे लेटे बुड्ढे का दिल भर आया।

उसे कुछ भी मालूम न था कि उसके माता-पिता कौन थे? सस्ता पुण्य कमाने के विचार से किसी जमींदार ने उस अनाथ को ले लिया था। पर वह वहां से निकल भागा। कहीं कुछ काम मिल जाय जिससे रोटियों का सहारा हो सके इस विचार से वह इधर उधर बहुत भटका। बड़ा कठोर जीवन व्यतीत किया था उसने। दुःखों के अतिरिक्त जीवन का और कोई आनन्द उसने नहीं देखा था। जाड़ों की लम्बी रातें खुले

मैदानों में पड़कर काट दी थी। चाहा था कि मर जाऊं और ऐसी नींद सोऊं कि फिर कभी ये आंखें न खुल सकें। जितने लोगों से अब तक वास्ता पड़ा था वे सब बेदर्द थे, निष्ठुर थे। दया उनके पास तक नहीं फटकने पाती थी। सब से बड़ी विपत्ति तो यह थी कि मालूम होता था प्रत्येक उससे डरता है। बालक देख पाते तो भाग जाते। कुत्ते उसके चीथड़ों को देख कर भूँकने लगते। फिर भी उसने कभी किसी का बुरा न चाहा था। सीधी सादी नेक तबियत पाई थी। विपत्ति के पहाड़ों ने उसे निर्जीव बना दिया था।

आंख लगने को ही थी कि दूर से घंटियों की सी आवाज सुनाई दी—जैसे वे किसी घोड़े की गर्दन में हिल रही हों। सिर उठाकर देखा, पृथ्वी से कुछ ऊपर एक प्रकाश सा आगे बढ़ता हुआ दिखाई दिया। टकटकी लगाकर वह देखने लगा कि एक अच्छा बड़ा घोड़ा एक भारी सी गाड़ी को खींचे ला रहा है। गाड़ी पर इतना लंबा चौड़ा अंबार लदा था कि सड़क दिखाई ही न देती थी। घोड़े के साथ साथ एक व्यक्ति मस्त होकर गाना गाता हुआ आरहा था।

थोड़ी देर में गाना समाप्त होगया, सड़क के ऊपर की चढ़ाई थी, घोड़े के सुम पत्थरों पर खटाखट पड़कर सुनाई देने लगे। गाड़ीवान चाबुक मार मार कर और आवाज दे-देकर घोड़े को आगे बढ़ने के लिए उकसाने लगा। [illegible]

[illegible]

घोड़े ने गर्दन आगे डाल रखी थी। अपनी शक्तिभर वह जोर लगा रहा था। दो तीन बार रुका, क़रीब क़रीब घुटनों के बल आ रहा था—फिर उठ खड़ा हुआ और इतना जोर लगाया कि पसीने से तर होगया। बेदम होकर रह गया। गाड़ी रुक गई। गाड़ीवान ने हाथ धुरे रख कर कन्धा पहिए से मिला लिया और जोर लगा कर कहा, "चल...........बढ़ा चल..............ऊपर।"

घोड़े ने बहुत जोर लगाया। गाड़ी न हिली।

"चल...............बढ़ा चल।"

असहाय पशु ने टांगें खोल रखी थीं। नथुने फड़क रहे थे। फिर भी वह स्थिर भाव से खड़ा था। बोझ इतना लदा हुआ था कि डर था कहीं खींच कर गाड़ी पीछे ही न ले जाय। अगले सुम पृथ्वी पर जमा रखे थे। इतना जोर लगाया कि शरीर का बाल बाल फड़क रहा था। गाड़ीवान पहिए पर झुका हुआ था। सहसा सड़क के किनारे बैठे हुए भिखारी पर दृष्टि पड़ गई। आवाज दी, "यार, जरा हाथ लगाना तो। जानवर किसी तरह सरकता ही नहीं। आओ तो जरा मिलकर जोर लगाएँ।"

भिखारी उठ खड़ा हुआ। शक्ति कहाँ थी उसमें! फिर भी अपनी शक्तिभर उसने गाड़ी को धकेलना चाहा और गाड़ीवान

मैदानों में पड़कर काट दी थी। चाहा था कि मर जाऊं और ऐसी नींद सोऊं कि फिर कभी ये आंखें न खुल सकें। जितने लोगों से अब तक वास्ता पड़ा था वे सब बेदर्द थे, निष्ठुर थे। दया उनके पास तक नहीं फटकने पाती थी। सब से बड़ी विपत्ति तो यह थी कि मालूम होता था प्रत्येक उससे डरता है। बालक देख पाते तो भाग जाते। कुत्ते उसके चीथड़ों को देख कर भूँकने लगते। फिर भी उसने कभी किसी का बुरा न चाहा था। सीधी सादी नेक तबियत पाई थी। विपत्ति के पहाड़ों ने उसे निर्जीव बना दिया था।

आंख लगने को ही थी कि दूर से घंटियों की सी आवाज सुनाई दी—जैसे वे किसी घोड़े की गर्दन में हिल रही हों। सिर उठाकर देखा, पृथ्वी से कुछ ऊपर एक प्रकाश सा आगे बढ़ता हुआ दिखाई दिया। टकटकी लगाकर वह देखने लगा कि एक अच्छा बड़ा घोड़ा एक भारी सी गाड़ी को खींचे ला रहा है। गाड़ी पर इतना लंबा चौड़ा अंबार लदा था कि कुछ दिखाई ही न देता था। घोड़े के साथ साथ एक व्यक्ति मस्त होकर गाना गाता हुआ आ रहा था।

घोड़े ने गर्दन आगे डाल रखी थी। अपनी शक्तिभर वह जोर लगा रहा था। दो तीन बार रुका, करीब करीब घुटनों के बल आ रहा था—फिर उठ खड़ा हुआ और इतना जोर लगाया कि पसीने से तर होगया। बेदम होकर रह गया। गाड़ी रुक गई। गाड़ीवान ने हाथ धुरे रख कर कन्धा पहिए से मिला लिया और जोर लगा कर कहा, "चल..........बढ़ा चल..............ऊपर।"

घोड़े ने बहुत जोर लगाया। गाड़ी न हिली।

"चल..............बढ़ा चल।"

असहाय पशु ने टांगें खोल रखी थीं। नथुने फड़क रहे थे। फिर भी वह स्थिर भाव से खड़ा था। बोझ इतना लदा हुआ था कि डर था कहीं खींच कर गाड़ी पीछे ही न ले जाय। अगले सुम पृथ्वी पर जमा रखे थे। इतना जोर लगाया कि शरीर का बाल बाल फड़क रहा था। गाड़ीवान पहिए पर झुका हुआ था। सहसा सड़क के किनारे बैठे हुए भिखारी पर दृष्टि पड़ गई। आवाज़ दी, "यार, जरा हाथ लगाना तो। जानवर किसी तरह सरकता ही नहीं। आओ तो जरा मिलकर जोर लगाएँ।"

भिखारी उठ खड़ा हुआ। शक्ति कहाँ थी उसमें! फिर भी अपनी शक्तिभर उसने गाड़ी को धकेलना चाहा और गाड़ीवान

के साथ उसने भी कहना आरम्भ किया "ऊपर...............
ऊपर..............." मगर सब व्यर्थ !

भिखारी थोड़ी देर में बेदम होगया। इधर पशु पर भी तरस आरहा था। वह बोला—

"ज़रा देर दम लेने दो। इतना बोझ उठाने की शक्ति इसमें नहीं है।"

"नहीं यार, जी चुराता है। यदि आज इसकी हट पूरी कर दी गई तो फिर बोझ लेकर यह कभी चढ़ाई पर न चढ़ेगा। 'चल, ऊपर चल' !

"पहिये के नीचे एक पत्थर फँसा कर रख दो। सड़क पर इधर उधर मोड़कर चला लेंगे।"

भिखारी एक भारी सा पत्थर उठा लाया।

गाड़ीवान ने कहा, "इस प्रकार लो। मैं तो पहिए पर ज़ोर लगाता हूं, चाबुक तुम संभाल लो। इसका सिर बाएँ हाथ की ओर मोड़कर चाबुक ज़ोर से टाँगों पर मारो। अभी इसके होश ठिकाने आ जायेंगे।"

"इस प्रकार....हाँ इसी प्रकार.......!"

घोड़ा सड़क पर एक ओर मुड़ जाने की कोशिश कर रहा था। गाड़ीवान चाहता था कि झुक कर पत्थर को ठीक पहिए के नीचे जमा दे। इतने में उसका पैर फिसल पड़ा। घोड़ा पीछे को हटा और गाड़ीवान चीख मार कर गिर पड़ा।

पीठ के बल गिरा था। कष्ट ने मुखाकृति को बदल दिया। नेत्रों के डेले उबले पड़ रहे थे। दोनों कोहनियाँ पृथ्वी में गाड़ रखी थीं और मजबूत हाथों से पहिए को थामे हुए था कि कहीं छाती पर न आ पड़े।

भीषण कष्ट से झल्ला कर वह चिल्लाया,

"आगे बढ़ाओ, आगे बढ़ाओ, कुचले दे रहा है।"

बिना देखे, केवल पूछ कर कि क्या बात है, भिखारी ने चाबुक और रास से घोड़े को संभालने की कोशिश की; परन्तु दुर्बल घोड़ा घुटनों के बल गिर पड़ा। पृथ्वी पर लोट गया। गाड़ी आगे की ओर उलट गई। बम जमीन पर आ पड़े। लालटेन उलट कर बुझ गई। रात्रि के अन्धकार और सन्नाटे में या तो घोड़े का शीघ्र शीघ्र हाँफना सुनाई दे रहा था या एक व्यक्ति के पीड़ा के मारे कराहने की आवाज आरही थी।

"आगे चल....आगे चल....।"

किसी प्रकार घोड़े को खड़ा करने में सफल न हुआ तो भिखारी दौड़ कर गाड़ीवान के पास आगया और उसके छुड़ाने की कोशिश करने लगा। मगर पहिए ने उसे बुरी तरह फँसा रखा था।

गाड़ीवान ने बड़ी कोशिश से पहिए को अपने शरीर से दो इंच ऊपर उठा रखा था। तनिक कहीं पहिया हाथ से निकल जाता—तनिक भी शक्ति उत्तर दे देती—तो पहिए से कुचलकर उसका काम तमाम हो जाता। वह इस परिस्थिति से अनभिज्ञ न था। भिखारी को अपने ऊपर झुका देखा तो चिल्ला कर बोला—

"मुझे न छूना! मुझे न छूना!.......दौड़कर गाँव को जाओ.......शीघ्र....मेरे माता-पिता के पास,........"लूशात" के घर........दाहिनी ओर....जो मकान और खेत पहले पड़ते हैं........ कहना, आदमी लेकर तुरन्त सहायता को आए........दस मिनट तक इसी प्रकार पड़ा रह सकूंगा, शीघ्र........!"

भिखारी अपनी पूरी शक्ति के साथ चढ़ाई पर भागा—वायु वेग से उस सामने दिखाई पड़ने वाले गांव में जा घुसा। मकानों की खिड़कियाँ बन्द थीं। दीपक बुझा दिए गए थे। कहीं कोई प्राणी दिखाई न देता था। उसे देखकर कुत्ते जोर जोर से भूँकने लगे। मगर वह न कुछ सुन रहा था। न कुछ देख रहा था। उसके नेत्रों के सामने वही भयावना दृश्य था कि गाड़ीवान

पहिए के नीचे पड़ा हुआ है और उस भारी बोझ को संभाले हुए है जो उसे कुचलने के लिए तैयार है। आखिर वह रुक गया। सामने दूर तक सीधी सड़क दिखाई दे रही थी। दाहिनी ओर एक इमारत खड़ी थी। खिड़की से थोड़ा थोड़ा प्रकाश बाहर निकल रहा था। समझा। यही घर होगा। हाथ से वह किवाड़ पीटने लगा।

एक आवाज आई, "तुम हो 'यूल' ?"

दौड़ने के कारण सांस फूल रहा था। आवाज निकाले न निकलती थी। उत्तर भला कैसे देता। अतएव लाचार वह किवाड़ पीटता रहा। पलंग की चर्रख-चूं से मालूम हुआ कि कोई व्यक्ति उठा। फिर चलने की आवाज आई। खिड़की खुली और उसमें से एक निद्रालु नेत्रों का मुख दिखाई दिया।

"तुम हो 'यूल' ?"

सांस कुछ कुछ ठीक होचली थी। हाँफते हुए कहा,

"नहीं,..........मगर मैं इसलिए आया हूँ कि.........."

उसने बात समाप्त न करने दी, बोला—

"मर जा अभागे" आधी रात के समय भी लोगों को परेशान करता फिर रहा है।

और पट से उसने खिड़की बन्द कर ली, भीतर किसी से उसने कहा,

"यूँ ही कोई अवारा है.........लुच्चा......शोहदा.......।"

भिखारी कुछ खो सा गया और गुम-सुम रह गया, सोचने लगा—

"क्या इन्होंने भिखारी समझ कर मेरा यह तिरस्कार किया ? मैंने तो इन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाई थी। इतना ही अपराध हुआ कि कच्ची नींद में जगा दिया। हाय, अभागो, तुम्हें क्या मालूम तुम्हारे पुत्र पर क्या बीत रही है!"

फिर धीरे से किवाड़ खटखटाए। भीतर से आवाज आई—

"अच्छा अभी तक यहीं है। जरा ठहर तो तू। यदि मैं उठ खड़ा हुआ तो छठी का दूध याद करा दूँगा।"

भिखारी की सांस अब ठीक होगई थी। बोला,

"खिड़की खोलो।"

"चलता फिरता नजर आ।"

"खिड़की खोलो।"

इस बार खिड़की खुली मगर बहुत झटके से। भिखारी को किंवाड़ खुलने से चोट लगने की आशंका हुई और उसे उछल कर दूर हट जाना पड़ा। देखा, गृहस्वामी बन्दूक हाथ में लिए खड़ा था।

"कंगले, कान खोल कर सुनले! इसी समय यहाँ से दूर न हुआ तो तोला भर सीसा सीने में पार कर दूंगा।"

बिस्तर पर पड़ी हुई स्त्री कह रही थी:—

"अजी तुम चला भी दो बन्दूक! सबके आशीर्वाद लोगे। अभागे! अवारागर्द कहीं के! सिवा चोरी के..............."

बन्दूक सामने देख कर भिखारी सहम गया और उसी अन्धकार में वापस चला गया। वह काँप उठा और थोड़ी देर के लिए उस मन्दभागी का विचार चित्त से उतर गया जो शायद उसी सड़क पर पड़ा हुआ अन्तिम साँसें ले रहा था। इस व्यवहार से वह तड़प उठा। उसे आज पहली बार मालूम हुआ कि लोग उससे इतनी घृणा करते हैं, और "यदि तू भूख से मर रहा होता! या रात काटने के लिए ठिकाने की तलाश में दरवाजा खटखटाया होता!! क्या तुझे इतना भी स्वत्व नहीं कि तू ढोरों-डंगरों के निकट फूस के ढेर को ही बिस्तर समझ सके? कुत्तों के साथ रोटी का एक टुकड़ा भी गले के नीचे उतार सके? अमीर तेरी जान लेने पर तुल सकते हैं! तो क्या इन चिथड़ों के नीचे जो शरीर है वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं?")

चित्त में एक विचित्र सी लहर दौड़ गई। पहले तो मन में आया कि लाठी उठा कर खिड़की के पर्दे से दे मारे। फिर सोचा, "मैंने दुबारा खटखटाया तो वह 'फैर' कर देगा।

शोर मचाऊँगा तो सारा गाँव जाग जायगा और मैं अपनी बात कह भी नहीं सकूँगा कि लोग मुझे मार मार कर अधमरा कर देंगे। कहीं और जाकर सहायता मांगी तो वहाँ भी यही हाल होगा।"

थोड़ी देर सोच विचार करने के उपरान्त वह बहुत तेजी से वापस चला कि बिना किसी सहायता के भी अपने मित्र की जान बचाए। दीवाने की भांति वह चला जा रहा था। यह भय उसे उड़ाए लिए जा रहा था कि न जाने उसके पीछे उस पर क्या बीती होगी? वहाँ पहुंच कर न जाने उसे क्या देखना पड़े?

इस समय उसके पैरों में युवकों की सी शक्ति आगई थी। थोड़ी ही देर में वह उस स्थान के निकट आगया जहाँ गाड़ी रुक गई थी। चिल्ला कर कहा,

"मित्र!"

कुछ उत्तर न मिला— फिर चिल्लाया—

"मित्र!"

ऐसा घटाटोप अन्धकार था कि घोड़ा तक न दिखाई देता था; परन्तु हल्की हल्की हिनहिनाहट की आवाज सुनकर वह आगे बढ़ा। घोड़ा अभी तक करवट के बल पड़ा था और गाड़ी आगे को उलटी हुई थी।

"मित्र !...............मित्र !!

वह अपने मित्र को देखने नीचे झुका। थोड़ी ही देर के पश्चात् चन्द्रमा निकल आया। देखा कि गाड़ीवान चित्त पड़ा है। हाथ फैले हुए हैं, नेत्र बन्द हैं, मुँह से खून निकल रहा है। पहिया बोझ के कारण छाती में इस प्रकार धँस गया जैसे किसी नाली में फँस गया हो।

गाड़ीवान की हालत बिगड़ चुकी थी। अब यहाँ क्या करता? उसके माता-पिता के विरुद्ध क्रोध की आग पहले से भी अधिक भड़क उठी। प्रतिकार की प्यास से समस्त शरीर फुंकने लगा। दौड़ा हुआ गाँव में वापस गया।

अब बन्दूक का कुछ भय न था, किवाड़ खटखटा रहा था और मनमें राक्षसी प्रसन्नता नृत्य कर रही थी।

"तुम हो 'यूल' ?"

कुछ उत्तर न दिया। जब खिड़की खुली, गृहस्वामी की सूरत दिखाई दी और फिर वही प्रश्न सुनाई दिया तो वह बोला,

"नहीं, मैं वही कंगला हूँ जो थोड़ी ही देर पहले तुम्हें सूचना देने आया था कि तुम्हारा पुत्र सड़क पर मर रहा है।"

माता-पिता की भयार्त्त आवाजें सुनाई दीं,

"क्या कहा ?...............भीतर आओ ....चले आओ...............चले आओ...............।"

परन्तु भिखारी ने टोप नेत्रों के सामने खींच लिया और यह कहता हुआ चल दिया,

"अब मुझे और काम है। इतनी शीघ्रता की क्या आवश्यकता है? समय व्यतीत हो चुका है, शीघ्रता से उस समय काम लेना था जब मैं प्रथम बार आया था। अब तो सारा बोझ उसकी पसलियों में घुस गया है।"

स्त्री ने सिसकियाँ भरते हुए पति से कहा,

"यूल के पिता जल्दी करो, जल्दी दौड़ो।"

पिता ने शीघ्रता से कपड़े पहने। साथ ही चिल्ला कर पूछा,

वह कहाँ है ?..................सुनना.......................लौट आओ...........तुम्हें परमात्मा की शपथ...........बताना........ वह कहाँ है...............?"

परन्तु भिखारी लाठी कंधे पर रखे अन्धकार में विलीन हो चुका था।

कूड़े पर केवल एक मुर्गी की आवाज सुनाई पड़ी जो यह बातचीत सुनकर जाग गई थी। साथ ही एक कुत्ते के 'भूँ-भूँ' भी, चन्द्रमा को देख कर उसने अपना सिर उठाया और जोर जोर से भूँकना आरंभ कर दिया।

× × ×

भिखारी का काम अब केवल बीन बजाना और हरिगुण गान करना था, संसार की पीड़ाओं से वह विरक्त था।

———

तलाक़ की छाया

(१)

मैं बालिका थी—आधी अपनी माँ की, आधी अपने बाप की। अर्थात् आपसी बटंवारे में दोनों मेरे शरीर के आठ आठ आनेके हिस्सेदार हो गये थे।

जाड़ा मैं अपनी परित्यक्ता मां के साथ बिताती, गर्मी की छुट्टियां परित्यक्ता पिता के साथ। मेरे माता-पिता, मेरी परिस्थितियां, सब अजीब थीं। ज्यों ज्यों बड़ी होती जाती थी मुझे प्रतीत होता जाता था कि मुझे दो विरोधी प्रकृतियों के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। क्या ही अच्छा होता यदि मैं जुड़वाँ होती! तब मुझे—नोवेल विलनर को—दो दो घरों के होते हुए भी गृहहीन की तरह रहने का अनुभव न होता।

मेरे पिता वकील थे। वे मेरी मां को तलाक़ देकर अपने नवीन घर 'समरसेट' को चले गए थे। उस समय मैं एक अबोध बालिका थी। अतएव तब मेरी समझ में यह रहस्य कुछ भी न आया; न इससे मेरे कार्य-क्रम में ही कोई व्यक्तिक्रम हुआ। माता और पिता के बीच हिंडोले की तरह झूलती हुई मैं धीरे धीरे बड़ी होने लगी।

मेरी धाय 'हेटी' बहुत मोटी थी। उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। वही प्रातः से सांयकाल तक मेरी देखभाल करती, मुझे कपड़े पहनाती और मुझे टहलाने ले जाती। उसके लाड़-प्यार

ने मुझको बिगाड़ दिया। मैं अपनी हमजोली सखियों के साथ आँख-मिचौनी खेला करती थी। वे सब रंगीली भड़कीली पोशाक में रहा करती थीं। लड़कों में मेरी पहचान सिर्फ एक लड़के से थी। वह मेरे घर से लगभग आधे मील की दूरी पर 'अवेन्यू में अपनी दादी के साथ रहता था।

'माइकेल लारेंस' मुझसे कई वर्ष बड़ा था। जितना ही वह शान्त एवं गंभीर था उतनी ही मैं हँसमुख थी। एक दिन वह मेरे भागते हुऐ पिल्ले को पकड़ने के लिये अपने टट्टू से उतर पड़ा। वहीं ताल के पास हम दोनों में बहुत देर तक बातचीत होती रही। मैं उस लम्बे और काली आंखों वाले लड़के से कुछ कुछ डरती थी। इसलिये अपना बड़प्पन दिखलाने की इच्छा से मैंने उससे कहा कि मैं समरसेट अपने पिता से मिलने जाने वाली हूँ। अपनी बाल-सुलभ सरलता और अभिमान से मैंने उससे यह भी कह दिया कि मेरी सुन्दर मां को तलाक दे दिया गया है। मुझे अपनी माँ को छोड़ना बहुत अखरता है क्योंकि हम दोनों सदा मौजी जीवों के बीच में रहते हैं और प्रसन्न रहते हैं। माइकेल ने मेरी ओर शोचनीय तथा उदास नेत्रों से देखते हुए मेरी बातों को बड़े ध्यान से सुना।

अंत में उसने निर्भीक भाव से कहा, "यह तो बड़ी विचित्र बात है। तलाक से किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती। उलटे रंज ही होता है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ, क्योंकि

जब मैं तुम्हारे ही इतना छोटा था तब मेरी मां को भी तलाक दे दिया गया था। दादी कहती है कि मेरे पिता ने आत्महत्या कर ली थी और इसके बाद एक अपवाद भी फैला था। कुछ समय बाद मेरी मां भी मर गई। अब मैं और दादी दोनों अकेले ही रहते हैं। विनोद के तो हम लोग पास भी नहीं फटकते।"

उसने फिर पूछा, "तुम्हारा नाम नोवेल क्यों पड़ा?"

मैं यह भी जानती थी। मैं 'क्रिसमस' से पूर्व की सन्ध्या को पैदा हुई थी। उस समय गायक लोग मंगल गा रहे थे। उसका गाना सुनकर ही पिताजी की इच्छा हुई कि बपतिस्मा होने पर मेरा नाम नोवेल पड़े। मां ने भी सोचा कि एक नवीन बात होगी। ये सब बातें मैंने लौरेंस को अच्छी तरह समझा दीं।

मेरी मां सदा अपनी रुचि के अनुकूल काम करती। नाचना, घोड़े पर सवार होना, सुन्दर एवं सुगंधित वस्त्र पहनना और पार्टियों में जाना उसे बहुत भाता था। मेरे पिता जब उस पर आसक्त हुए थे तब उन्होंने उसे 'सोनजुही' की पदवी दी थी। मां के ही सबब से उन्होंने उस भव्य प्राचीन शहर में वकालत करने का निश्चय किया था।

मां के बाल काले रेशम की भांति सुन्दर और घुंघराले थे। चेहरा मक्खन की तरह मुलायम था और सुनहरी आंखें सदा मुसकराती रहती थीं। पीछे मैं भी उसकी मुसकराहट के

ने मुझको बिगाड़ दिया। मैं अपनी हमजोली सखियों के साथ आँख-मिचौनी खेला करती थी। वे सब रंगीली भड़कीली पोशाक में रहा करती थीं। लड़कों में मेरी पहचान सिर्फ एक लड़के से थी। वह मेरे घर से लगभग आधा मील की दूरी पर 'अवेन्यू में अपनी दादी के साथ रहता था।

'माइकेल लारेंस' मुझसे कई वर्ष बड़ा था। जितना ही वह शान्त एवं गंभीर था उतनी ही मैं हँसमुख थी। एक दिन वह मेरे भागते हुऐ पिल्ले को पकड़ने के लिये अपने टट्टू से उतर पड़ा। वहीं ताल के पास हम दोनों में बहुत देर तक बातचीत होती रही। मैं उस लम्बे और काली आंखों वाले लड़के से कुछ कुछ डरती थी। इसलिये अपना बड़प्पन दिखलाने की इच्छा से मैंने उससे कहा कि मैं समरसेट अपने पिता से मिलने जाने वाली हूँ। अपनी बाल-सुलभ सरलता और अभिमान से मैंने उससे यह भी कह दिया कि मेरी सुन्दर मां को तलाक दे दिया गया है। मुझे अपनी माँ को छोड़ना बहुत अखरता है क्योंकि हम दोनों सदा मौजी जीवों के बीच में रहते हैं और प्रसन्न रहते हैं। माइकेल ने मेरी ओर शोचनीय तथा उदास नेत्रों से देखते हुए मेरी बातों को बड़े ध्यान से सुना।

अंत में उसने निर्भीक भाव से कहा, "यह तो बड़ी विचित्र बात है। तलाक से किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती। उलटे रंज ही होता है। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ, क्योंकि

जब मैं तुम्हारे ही इतना छोटा था तब मेरी मां को भी तलाक दे दिया गया था। दादी कहती है कि मेरे पिता ने आत्महत्या कर ली थी और इसके बाद एक अपवाद भी फैला था। कुछ समय बाद मेरी मां भी मर गई। अब मैं और दादी दोनों अकेले ही रहते हैं। विनोद के तो हम लोग पास भी नहीं फटकते।"

उसने फिर पूछा, "तुम्हारा नाम नोवेल क्यों पड़ा?"

मैं यह भी जानती थी। मैं 'क्रिसमस' से पूर्व की सन्ध्या को पैदा हुई थी। उस समय गायक लोग मंगल गा रहे थे। उसका गाना सुनकर ही पिताजी की इच्छा हुई कि बपतिस्मा होने पर मेरा नाम नोवेल पड़े। मां ने भी सोचा कि एक नवीन बात होगी। ये सब बातें मैंने लौरेंस को अच्छी तरह समझा दीं।

मेरी मां सदा अपनी रुचि के अनुकूल काम करती। नाचना, घोड़े पर सवार होना, सुन्दर एवं सुगंधित वस्त्र पहनना और पार्टियों में जाना उसे बहुत भाता था। मेरे पिता जब उस पर आसक्त हुए थे तब उन्होंने उसे 'सोनजुही' की पदवी दी थी। मां के ही सबब से उन्होंने उस भव्य प्राचीन शहर में वकालत करने का निश्चय किया था।

मां के बाल काले रेशम की भांति सुन्दर और घुंघराले थे। चेहरा मक्खन की तरह मुलायम था और सुनहरी आंखें सदा मुसकराती रहती थीं। पीछे मैं भी उसकी मुसकराहट के

तालाब में धीरे से लहराता हुआ 'सोनजुही' का ही फूल समझने लगी थी। वह सदा प्रसन्न और हँसमुख रहती थी। उसको चिल्लाते या किसी को धमकाते किसी ने कभी नहीं सुना।

इसलिए जब माइकेल लारेंस ने तलाक के बारे में अपने विचार प्रकट किये तो मैंने जमीन पर जोर से पैर पटकते हुए उसे विश्वास दिलाया कि तुम सब बातें ठीक से नहीं समझे। तलाक तो सिर्फ एक विनोद मात्र है। बड़ी होने पर जब मेरा विवाह हो जायगा तब मेरी इच्छा है कि मुझे भी ऐसे ही तलाक मिले।

माइकेल ने मेरी ओर देखा और अपनी बुद्धिमत्ता प्रकट करते हुए कहा, "तुम्हें अभी इन बातों के समझने की अक्ल नहीं आई है।"

इस पर हम दोनों में थोड़ी देर तक बहस होती रही। अगर हेटी न आ जाती तो न जाने कब तक इस बहस का अंत होता। मैं हेटी के साथ चली गई।

दूसरे ही दिन मैं रेल पर सवार होकर अपने पिता और दादी बिलनर के साथ गर्मी की छुट्टियाँ बिताने के लिए समरसेट को चली गई। मेरे दादा पहिले मजिस्ट्रेट थे; अतएव अब भी उनका देश में बहुत मान था।

(२)

दूसरी बार जब मैं माइकेल से मिली तब हम दोनों काफी सयाने हो चुके थे। माइकेल पढ़ने के लिए दूसरे नगर में जा रहा था। मैं उदास हो गई। बहुत देर तक हम दोनों एक दूसरे से कुछ झेंपे हुए से एक बलूत के पेड़ के नीचे बातें करते रहे।

अपनी नीली आंखें उसकी गंभीर काली आंखों में गड़ाते हुए मैंने गंभीरता से स्वीकार किया—"माइकेल, तुम तब सच कहते थे। तलाक कोई हंसी दिल्लगी नहीं। अब मैं अपने पिता और दादा के बिना सूनेपन का अनुभव करती हूँ।"

माइकेल ने समझदारी दिखलाते हुए अपना सिर हिलाया। मैं अपने साथ सहृदयता दिखलाने वाले किसी व्यक्ति के साथ अपना हृदय खोल कर रख देने के लिए उतावली हो रही थी। इसलिए मैं कहती रही —

"मैं अपनी मां की पूजा करती हूँ, परन्तु पिता के बिना यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता। ओह माइकेल सिर्फ इसी बात से मेरे हृदय को चोट पहुंचती है।" यह कह कर मैंने अपने हाथों से अपने कसकते हृदय को जोर से दबा लिया।

माइकेल कुछ देर तक विचारमग्न सा रहा, फिर सिर हिलाते हुए बोला—

"तुम मां और बाप दोनों को चाहती हो, परन्तु ये दोनों तो तुम्हें साथ मिल नहीं सकते। इसी से तुमको कुछ ऐसा अनुभव होता है कि कोई तुम्हारे हृदय को चीरे डालता है। परन्तु नोवेल, माता-पिता अपने मन की करते हैं। बच्चों के ऊपर क्या बीतती है इसकी चिन्ता कौन करे ?"

मैंने बातों का रुख बदलते हुए कहा—

"पिछली गर्मियों में मेरे पास एक टट्टू था और मुझे उस पर सवारी करने में बड़ा आनन्द आता था। माइकेल, तुम उस टट्टू को अवश्य पसन्द करते। ओह, यह नीला आकाश ! यह गंधमयी पृथ्वी !! और इतने पर भी मनुष्य की यह हृदयहीनता !!!"

हम लोग 'वुरूश' की झुरमुट में बातें करने में तन्मय थे। इतने में कोकिल पेड़ों में चहचहा उठी। माइकेल ने मुझसे कहा कि मैं डाक्टरी पढ़ने जा रहा हूँ। उसका कहना था कि इस दुनियां में डाक्टर का ही काम सच्चा और महत्वपूर्ण होता है। रोगियों को चंगा करना, निर्धनों की सहायता करना और उनको हृष्ट-पुष्ट होने के साधन बताना, ये ही तो डाक्टर के मुख्य काम हैं। ऐसा कहते ही उसका मुखमण्डल चमक उठा। परन्तु उसकी इन बातों का मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपने सुनहले घुंघराले बालों को पीछे की ओर उछालते हुए मैं उसके उत्सुक चेहरे को देखकर मुस्करा उठी।

मैंने ठहाका मारते हुए कहा—"यह तो सब ठीक ही है, पर मुझे यह सब अच्छा नहीं मालूम होता। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर मैं तो विवाह होने पर खूब खेलूंगी, कूदूंगी और मौज करूंगी।"

फिर बात बदलते हुए मैंने कहा—"हां, माइकेल, तुमको मेरा वह हरा फ्राक अवश्य देखना होगा। और मैं जो मोती खरीदने वाली हूँ वे भी तुमको अवश्य दिखलाऊंगी।"

माइकेल की आंखों में कुछ निराशा की छाया दिखलाई दी। उसने कहा—"नौवेल, मैं तो सोचता था कि अब तुम बहुत बदल गई होगी, परन्तु अभी पूरा लड़कपन है। इसमें सन्देह नहीं कि एक गुड़ियां सुन्दर वस्त्राभूषण पहन कर दिन भर मुस्कराती रह सकती है। अगर मेरा विवाह हुआ तो मैं ऐसी लड़की से शादी करूंगा जो काम करने और मुझे सहायता देने से न घबड़ाए। मैं चाहता हूँ कि वह सदा अपने हाथों की सुकुमारता और सुन्दरता का ही ध्यान न रखे वरन् परिवार को सुखी बनाने की भी चिन्ता रखे। मैं न अक्ल की दुश्मन नखरेबाज लड़की को ही प्यार करूंगा, न नाचने वाली गुड़िया को।"

(२)

हम दोनों एक दूसरे को टकटकी लगाये देख रहे थे। हमारे ऊपर लवा पक्षी मीठे स्वर से गा रहा था।

"मीठी बोली बोल रे तू, मीठी बोली बोल।"

मैंने माइकेल से कहा—'ओहो, यह बुजुर्गी कब से छांटने लगे? तुम तो ऐसे उपदेश देने लगते हो जैसे कभी कभी मेरे दादा दिया करते थे।"

आखिर हम दोनों इच्छा न रहते हुए भी हृदय पर एक बोझ सा लिए हुए एक दूसरे से बिछुड़े। फिर कब मिलेंगे इसका कुछ भी निश्चय न था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरा हृदय सूना होगया हो, और मैं 'शीत-कुटीर' के बाहर हरी हरी दूब में पड़ रही।

माइकेल मेरे पिता और दादा की भांति गंभीरता से निःस्वार्थ एवं कर्तव्य परायण होने का उपदेश दिया करता था। उसकी बातों ने मुझे और भी बेचैन कर दिया; क्योंकि मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मानो मैं दो रूप धारण किए हुए हूँ। समरसेट में मैं नौवेल बन जाती हूँ, वहाँ मुझे बहुत सोच-विचार कर चलना पड़ता है। चाहे मुझे पसंद आवे चाहे न आवे, दूसरों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना पड़ता है। यहां मैं मां की 'नोला' बन जाती हूँ। मेरे विचार यहां अपनी सुन्दरता बढ़ाने और अपने को एवं दूसरों को प्रसन्न करने तक ही परिमित रहते हैं। क्या प्रत्येक व्यक्ति अच्छा और बुरा दोनों हो सकता है? मैंने अपने बुद्धिमान एवं स्नेहशील दादा विलनर से यह प्रश्न किया था। परन्तु उन्होंने मुझे आश्वासन

देते हुए कहा था कि मैं खराब हूँ ही नहीं।

दादा ने मुझसे कहा था कि "बालक एक छोटी शाखा की भांति कोमल होता है। नौवेल, जैसा तुमको वायुमंडल मिले उसके अनुकूल मुड़ती रहो; परन्तु अपना माथा हमेशा सीधा सूरज और तारों की ओर किये रहो। तुम भी एक दिन जंगल के वृक्षों की भांति सरल और सत्यवादिनी बन जाओगी।"

मैं इन्हीं विचारों में निमग्न हो, शरद-ऋतु की सुनहली धूप में पड़ी थी। एकाएक मैं चौंक पड़ी। अंगूर की लता से आच्छन्न उस शीत कुटीर के भीतर से मेरी मां का मीठा हास्य सुनाई पड़ा। साथ ही किसी पुरुष की गुनगुनाहट भी कान में पड़ी। कार्टर-डे-लैंड ! ओह, मैं तो उसकी सूरत से भी घृणा करती हूँ, उसकी गड्ढे में धंसी आखें, उसकी गंजी खोपड़ी, और उसके हाथ—सभी मुझे बुरे लगते थे।

मैंने उसे कहते सुना, "प्यारी लिदा, तुम मुझे खूब रिझाती हो। अब तो यह निश्चित ही सा हो गया है। केवल इतना ही है कि तुम अपनी सुन्दरी कन्या की स्वीकृति लेने का हठ मत करो। नहीं तो तुम कभी भी मेरी नहीं हो सकती।"

माता के से नम्र स्वर में सुनाई दिया, "नोला से मैं आसानी से निपट लूंगी। उसकी ओर से निश्चिन्त रहो।

वह तो ठीक मेरी तरह है। वह अरुचिकर पदार्थों और दृश्यों को सहन नहीं कर सकती। उसके साथ मीठा वर्ताव करो तो जो चाहो सो करवा लो। अब के तुम जब आओ उसके लिए एक जोड़ी चूड़ियां लेते आना।"

मेरे हृदय को पहली वार गहरा धक्का लगा और मैं वहाँ से खिसक गई। मेरा हृदय भारी हो रहा था। इससे दौड़ना भी कठिन था। अपने कमरे में पहुंचकर मैंने भीतर से जंजीर चढ़ा दी और सोच में पड़ गई।

मुझे अपने कानों पर विश्वास ही न आता था। मेरे लिए तो यह एक भयानक वात थी। मां, और वह व्यक्ति! तो क्या वह मेरा सौतेला वाप वनेगा? विचारमात्र से मैं कांप उठी। परन्तु यह विचार वरावर मेरे सिर को खटखटाने लगा। कार्टर-डे-लैंड! और वह रहेगा हमारे ही घर में! मेरे मन में स्वप्न में भी यह विचार नहीं आ सकता था कि मेरी माता कभी विवाह करेगी। मुझे अपने पिता की आंखों में दीखे हुए उस उदासीनता और उत्सुकता के भाव का स्मरण हो आया। मेरे पिता से एक वार प्रेम कर चुकने पर मेरी मां कार्टर-डे-लैंड की ओर झुकी कैसे?

माता का यह कार्य मुझे निष्ठुर एवं पैशाचिकतापूर्ण जान पड़ा। मैं तकिए में मुंह छिपाकर सिसक सिसक कर रोने लगी। मैंने देखा कि अव मैं नितान्त एकाकी और असहाय हो गई हूँ।

माइकेल इस बात को जानता था कि "मां-बाप स्वेच्छा-नुसार कार्य करते हैं, बच्चों की परवाह नहीं करते।" आज मुझे भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया।

थोड़ी देर में मां भीतर आई। अपने हाथ के फूल की भांति वह भी सुगन्धमयी हो रही थी। उसकी मुलायम उंगलियों में एक बहुत सुन्दर हीरा चमक रहा था। अश्रुपूर्ण आंखों—किन्तु शांत चित्त—से मैं उसके प्रेममय बाहुपाश में बंध गई। मां के लाड़ प्यार में भी एक प्रकार की मादकता होती है। उसकी प्रेममय मीठी वाणी ने मेरे दुख को भुला दिया। मैंने मां की गोद में आत्मसमर्पण कर दिया। मैं सोचने लगी, कार्टर भी सम्माननीय है। शहर के अविवाहितों में उसकी ख्याति है। वह मां को इतना प्यार करता है। उसी के प्यार के कारण मां इतनी प्रसन्न रहती है। पर मैं चतुरता से मां को यह बतलाए बिना भी न रह सकी कि कार्टर इसाबेला को प्यार करता है। मां ने इस बात को सुनी अनसुनी करके मुझसे कहा, "अब तुम्हें कहीं दूर जाना होगा। यह कोई नई बात भी नहीं है। हरसाल गर्मियों में मुझे तुम्हारा त्याग करना ही पड़ता है। मुझे कार्टर के समान किसी साथी की आवश्यकता है,............" आदि।

हाँ तो मुझे करनी ही पड़ी। परन्तु मेरा हृदय डूबा जा

रहा था। मैं सोचती थी कि अब घर मेरे लिए वही घर नहीं हो सकता।

(३)

अप्रेल में मां ने विवाह कर लिया। कार्टर क्लब छोड़ कर हमारे घर में रहने लगा। मां और वह दोनों साथ ही कार में घूमने जाया करते। मां सदा से अधिक सुन्दर और प्रसन्न मालूम पड़ती थी। कार्टर का व्यवहार ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह सदा से हमारे ही घर में रहता आया हो। मैं उन दोनों के बीच दाल-भात में मूसलचन्द थी। कार्टर मुझे तंग करता था। वह मुझे अपनी लड़की बताता और सदा मुझे अपनी गोद में खींच लेने का प्रयत्न करता। उसका यह व्यवहार मुझे इतना अखरता था कि उससे छुटकारा पाने के दिन गिना करती थी।

आखिर वह दिन भी शीघ्र आ ही तो गया। मैं अपने पिता के यहाँ चली। मेरा हृदय रेल से भी अधिक वेग से उड़कर पिता के पास जाने को उतावला हो रहा था। जून का महीना था। खेतों की हरियाली मन को बरबस मोह लेती थी। मेरे लिए यहां रुकना कठिन प्रतीत होने लगा था। इसलिए अपने घर—पिता के पास—जा रही थी। सोचती थी कि पिता के साथ रह कर अपने इस दीर्घ वियोग के दुख को भुला दूंगी।

परन्तु ज्योंही मैं रेल से उतर कर पिता की बांहों से लिपट गई

त्योंही पिता ने मुझे मेरी "नवीन माता" को सौंप दिया। क्या कोई मेरी भावनाओं की छाया की भी कल्पना कर सकता है ?

मैंने अपने भावों को छिपाने का प्रयत्न किया। मेरे प्रति स्नेह-व्यवहार में कोई कमी न थी, और मेरे सम्मान की भी कुछ हानि नहीं हुई थी। मैंने अपनी नई सौतेली मां से हाथ मिलाया। उसने मुझसे कहा, "मुझे तुम जेनेट कहा करना।" मैंने उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित की। उसने मेरा चुम्बन नहीं लिया, यही मैंने अपना अहोभाग्य समझा। हम लोग घोड़े पर सवार होकर नये घर की ओर जा रहे थे। मैं कनखियों से उसकी ओर देखती जाती थी। वह लम्बी परन्तु देखने में सुन्दर थी। खास कर जो वस्त्र वह पहने थी उनसे तो वह और भी अच्छी लगती थी। मुझे बातों ही बातों में यह शीघ्र पता चल गया कि उसने गार्हस्थ शास्त्र का काफी अध्ययन किया है, और वह यह बात अच्छी तरह-से जानती है कि कौन वस्तु किसके लिए सबसे उचित होगी। इसी से वह होशियारी और किफायतशारी से चलती थी।

मैं भोजन का कौर निगलती जाती थी और कौर मशीन की तरह अपने आप मेरे गले से नीचे उतरता जाता था। पिताजी ने मेरे चेहरे की ओर ध्यान ही नहीं दिया और वास्तव में यदि उन्होंने ध्यान दिया होता तो शायद मैं उनकी दृष्टि को सहन न कर सकती। मुझे जीवन रहस्यमय और भूलभुलैया सा प्रतीत होने लगा।

कहने को तो अब मेरे दो बाप और दो मां थीं। परन्तु मैंने अपने को इतना एकाकी कभी न समझा था। अपनी इस सुन्दर कुटीर में जेनेट ने मेरे लिए जो कमरा ठीक कर रखा था वह मुझे दिखलाया। उसने कहा, "आज से मैं और तुम दोनों मित्र हुए। मैं तुम्हें अनेक बातों में मदद दूंगी।" साथ ही इन थोड़ी सी गर्मियों की छुट्टी में वह मुझे न जाने क्या क्या सिखाने को तैयार थी। "अपना असबाब खोलो, ये चीजें इस अलमारी में रखो। ये सामान सामने की उस अलमारी में ठीक से सजा कर रख दो। अब तुम सयानी हो गई हो। हर एक सयानी लड़की को यह अच्छी तरह से जानना चाहिए कि कपड़े किस तरह सजा कर रखे जाने चाहिए, और घर मे किस वक्त क्या काम करना चाहिए,......" इसी तरह न जाने वह मुझे क्या क्या उपदेश देती गई।

मैं पहले से लापरवाही सीखे थी। जहाँ कपड़े उतार देती वहीं रखे रह जाते। हेटी उन्हें संभाल कर रख दिया करती थी। परन्तु अब प्रति सप्ताह मुझे नियमन के संबन्ध में अगणित उपदेश ग्रहण करने पड़ते थे। यद्यपि यह सब सीखना मेरे हित में लाभदायक ही था तथापि इस तरह छुट्टियां तो मैंने कभी नहीं बिताई थीं।

प्रतिदिन प्रातःकाल मैं यही सोचती कि सारी गर्मियां तो मैं इस तरह बिता नहीं सकती। पिता के और मेरे बीच भी

पहले की वे बातें न रह गई थीं। जेनेट हम दोनों को एकान्त में मिलने भी तो न देती थी। मुझे तुरन्त यह आभास हो गया था कि वह छिपे छिपे मुझ से ईर्ष्या करती थी। कुछ भी क्यों न हो, थी तो मैं दूसरी स्त्री—उसकी सौत की कन्या। दादा व्यवसाय के कारण बाहर गये थे। यह मेरे लिए घोर निराशा थी।

गर्मी की छुट्टियां लगभग आधी बीत चुकी थीं। एक दिन प्रातःकाल मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब तो मैं एक दिन भी इस प्रकार नहीं रह सकती। न रहूँगी। पर जाऊं कहां? क्या करूं?

(४)

एकाएक मैंने अपना मार्ग निश्चित कर लिया। अभी उस दिन मैंने बस में बैठी हुई कुछ लड़कियों की बातें सुनी थीं। वे कहती थीं कि थोड़ी दूर पर एक नया होटल खुला है। मैनेजर को तुरन्त कुछ लड़कियों की आवश्यकता है। मुझे यह बात पसन्द आ गई।

सौभाग्यवश पिताजी और जेनेट उस दिन शाम को क्लब में चाय पानी के लिए जाने वाले थे और मुझे घर पर अकेली ही रहना था। मैंने सोचा क्यों इस अवसर को हाथ से जाने दूं। जहां मुझे एक बार अच्छी नौकरी मिली, पिताजी भी समझेंगे कि चलो अच्छा ही हुआ। बला टली।

हड़बड़ी में अपना सामान बांधा और बस की तरफ दौड़ी गई। मेरा हृदय उत्सुकता से उछला पड़ता था। कभी कभी यह भी ध्यान में आता कि मैं बड़ा भारी अपराध कर रही हूँ। नियत स्थान के करीब ही पहुंच पाई थी कि एक कार मेरे निकट से होकर निकली और मेरे दादा ने चिल्ला कर कहा, "कौन? नौवेल? क्या तुम्ही हो?" मेरे तो आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैं उछल पड़ी। दादा ने हँसते हुए कहा—"मैं अभी ब्रिस्टल से लौटा आ रहा हूँ। तुमसे मिलने के लिए दौड़ा दौड़ा इधर चला आया। बेटी भीतर आ जाओ। मैं तुम्हें एक नजर देखने को तरस रहा था।"

न डांट, न फटकार, न कैसे आई, न क्यों आई। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि वे घर पर रुके थे। पिताजी को लिखी हुई मेरी चिट्ठी भी उन्होंने पढ़ी थी। और उसके स्थान पर अपना पत्र रख दिया था। कुछ भी हो मेरे सिर से मानो एक भार हलका हो गया। मुझे इतना आनन्द हुआ कि मैं तमाम रास्ते भर दादा से गप्पें मारती रही। दादा सेब के बगीचे के बीच एक पुराने घर में रहते थे।

दादा ने राह चलते कहा—"बेटसी, अब पहिले के ऐसी फुर्तीली और परिश्रमी नहीं रह गई है। इसलिए मैं चाहता हूँ, कि तुम कुछ दिनों के लिए मेरे घर की स्वामिनी बनो।"

इस अप्रत्याशित सम्मान से मैं घबरा सी गई। परन्तु

दादा ने मेरी इस घबराहट को हँसी में उड़ा दिया।

स्नेहमय दादा ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मेरे हृदय की बात को समझ लिया। दादा के ही शब्दों में मैं मानो एक कोमल शाखा थी जो पतली होने के कारण इधर उधर झुक जाती थी। दादा ने मुझे मजबूत सहारा देकर सीधे और सच्चे होने का अवसर दिया।

ओह, उन दिनों की याद भी कितनी मीठी है। सारे दिन मैं व्यस्त रहती थी। आखिर किसी को मेरी आवश्यकता पड़ी तो! और मैं किसी के यहां रही तो! मैं घोड़े पर सवारी करती। बाहर काम पर लगे मजदूरों की मदद करती। और घर के भीतर भी मेरे अपने काम अलग थे। अब मैं अथक काम करने की अभ्यस्त हो गई। मैंने प्रत्येक मूर्ख मुर्गी और सब अभिमानी मुर्गों का नामकरण कर दिया, छोटे बीमार बछड़े का इलाज किया। फुर्सत मिलने पर सुन्दर बिल्ली के बच्चों और पिल्लों के साथ खेला भी करती। बेटसी बीमार थी, इसलिए मैं ही अकेली बड़ी शान से भोजन परोसती और दादा मेरे बनाये भोजन को चाव से खाकर मेरी प्रशंसा के पुल बांध देते।

कभी कभी मेरे मन में यह विचार उठता कि माइकेल लारेंस इन शान्तिमय आनन्द पूर्ण दिनों की सन्ध्या यदि हमारे साथ बिताता तो क्या ही अच्छा होता! कैसा आनन्द था!

सुन्दर गुलाब और नई कटी हुई घास की सुगन्ध चारों ओर व्याप्त थी। निद्रालु चिड़ियां मीठे स्वर से कूक रही थीं। जंगल से घर लौटते हुए पशु रंभा रहे थे। अब पहले पहल ईश्वर की भक्ति मेरे हृदय में आई और मैं अपने चारों ओर इस सरल सौन्दर्य और संगीत में परमात्मा का अनुभव करने लगी। सिवा सच्चिदानन्द के यह सब रचने की सामर्थ किस में हो सकती है? दादा मुझे धर्म का उपदेश नहीं दिया करते थे, किन्तु उनका धर्मानुष्ठान मेरे लिए स्वयं उपदेश का काम करता था। हम दोनों एक शान्तिपूर्ण कमरे में बैठते थे। दूर पहाड़ों के शिखरों पर तारे टिमटिमाते थे। दादा अपनी सर्वप्रिय कविता या गीत गुनगुनाया करते थे।

"यह नक्षत्रमय जगमगाता हुआ अम्बर परमेश्वर की दीप्तिमान कीर्तिपताका है।" यह विचार अब सदा मुझे स्मरण रहता, क्योंकि मैं स्वयं इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर चुकी थी।

इन सुख के दिनों को भी बीतते कुछ देर न लगी, और माता के स्नेहहीन घर जाने का समय आ गया। वही फैशन-परस्त स्कूल! कार्टर-डे-लैंड!! इन बातों की याद आते ही मेरा हृदय खिन्न हो गया। परन्तु मेरे अन्तः करण में कुछ सजीवता की ज्योति जगमगा उठी—राख के ढेर में दबी हुई आग भड़क उठी—मानो मेरी प्रिय कविता आज सत्य हो गई हो। निराशा के अन्धकार में प्रकाश के लिए इधर उधर टटोलते हुए मानो

इस हरियाली और इन पुष्पों मे व्याप्त एक ज्योति मेरे अन्तस् में प्रविष्ट हो गई।

इसलिए मैंने अपनी मां को एक पत्र लिखा और प्रार्थना की, "मां, अबकी बार जाड़ा मुझे दादा के साथ ही बिताने दो। मैं यहां खूब अच्छी तरह से हूँ और काम काज में व्यस्त रहती हूँ। पास ही एक अच्छा स्कूल भी है। दादा का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। उनको मेरी आवश्यकता भी है। मां, कृपा कर अवश्य मुझे यहां रहने की अनुमति दे दो।"

माता ने तुरन्त ही जो रूखा उत्तर भेजा उससे मेरे हृदय को थोड़ी चोट सी पहुंची। उसमें लिखा था, "हां, तुम दादा के साथ रह सकती हो।"

पत्र पढ़ने से मुझे यह स्पष्ट हो गया कि जब तक कार्टर उसके पास है तब तक उसे मेरी आवश्यकता नहीं। मुझे तब इस बात की संभावना भी नही थी कि वह सोनजुही का फूल मुसकुराहट के तालाब से बह कर तीव्रगामिनी वासना की नदी की प्रबल धारा में बहते हुए उसके भयंकर भंवर में फंसने जा रहा है।

अपने उस आनन्दमय वर्ष के लिए मैं सदा दादा की कृतज्ञ रहूंगी। दादा के उस जीर्णशीर्ण कमरे में मुझे स्वर्ग की सी शान्ति मिलती। वह मुझे दुःखसागर से बचाने के लिए मानो सुरक्षित द्वीप थे। अन्यथा मैं तो शीघ्र ही मंझधार में फेंक दी गई होती। फिर चाहे उसी में डूब मरती या तैर कर पार

मां ने मेरी ओर देखते ही कहा, "नोला, तुम दिन पर दिन सुन्दर होती जा रही हो।" फिर मेरे हाथों को अपने हाथों में लेते हुए कहा, "अरे, उस देहात में रहने से तुम्हारे हाथ खुरखुरे हो गये हैं। तुम्हारे कपड़े भी वेहूदे से हैं। शीघ्र इसका उपाय करना होगा। तुम्हारे लिए बढ़िया से बढ़िया कपड़े शीघ्र बनवा दिए जायेंगे।"

मैं इस सोच में थी कि मां पहले की अपेक्षा कुछ वृद्ध और खिन्न सी दिखलाई दे रही है। मेरे सौभाग्य से कार्टर-डे-लैंड छुट्टी के कारण मछली मारने गया था। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि मां के व्यवहार से भी यही प्रतीत हुआ की इधर उसको कुछ दुख है। उसके जाने से माता को भी प्रसन्नता थी और आने पर भी। विवाह के समय उसमें और कार्टर में यह शर्त हो चुकी थी कि प्रत्येक बंधनहीन एवं पूर्ण स्वतंत्र रहेगा। उसने अपने सुन्दर सिर को हिलाते हुए कहा, "प्रेम स्वतंत्र होना चाहिए, नहीं तो वह नष्ट हो जायगा। आधुनिक सभ्यता के युग में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे के प्रेमबंधन में बंधना नहीं चाहता।" तब उसने मुझसे मेरी सौतेली माता के संबंध में प्रश्न किया।

मैंने अनुमान लगाया कि कुछ दाल में काला है। मां सुखी नही है; पर अपने दुख को ढकने का प्रयत्न कर रही है। वह अपने को धोखे में रख रही थी ठीक ऐसे ही जैसे मैं अपने को रखा करती थी। बचपन में जब मुझे कभी अकेले ही

अंधेरी सीढ़ियों पर चढ़ना होता तो मैं जोर जोर से बातें करती और यह समझ लेती कि मैं अकेली नहीं हूँ।

मैं रात-रात भर जागती रही और यह आशा करती रही कि मां अपने आप मुझसे अपने हृदय का दुःख कह देगी। एकाएक एक ऐसी घटना हो पड़ी जिससे मुझे सुख की किरण दिखलाई दी और स्मृति में आशा की ज्योति जाग उठी।

एक दिन मैं मां के साथ चाय पीने के लिये कपड़े पहन कर तैयार थी। एक कालर खोजने के लिए मुझे बड़े ड्राइंगरूम में जाना पड़ा। मैंने देखा कि एक लंबा अपरिचित किन्तु कुछ कुछ जाना बूझा सा युवक मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। उसके कंधे हृष्ट-पुष्ट थे और वह बहुत सुन्दर प्रतीत होता था। वेष-भूषा से वह कोई बड़ा आदमी जान पड़ता था। परन्तु ज्योंही उसकी काली काली आंखें मेरे चेहरे पर पड़ी मेरा हृदय आनन्द से नाच उठा।

"कौन? माइकेल?" यह कहते हुए कुछ कुछ हृदय की प्रेरणा से मैंने स्वयं ही अपने हाथ उसकी ओर बढ़ा दिए।

"नौवेल!"

कुछ देर तक हम दोनों चुपचाप खड़े रहे और यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि एक दूसरे में कितना परिवर्तन हो गया है। मैंने स्वप्न में भी न सोचा था कि वह इतना सुन्दर हो जायगा।

"माइकेल, याद है, हम दोनों जब कभी बातें करते थे, तभी आपस में बहस छिड़ जाती थी ?" यह कहकर मैं हंसने लगी।

उसने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा, "यह समय हंसने का और पिछली बातों को याद करने का नहीं है। मैं अभी आध घंटे में जा रहा हूँ। मुझे अभी मालूम हुआ कि तुम वापस आगई हो। इसलिए मैं बिना तुमसे मिले न जा सका। "नौवेल, तुम युवती हो रही हो !"

मैंने उससे अनुरोधपूर्वक कहा, "माइकेल, बाहर आओ और अपना समाचार कहो !"

मैं उसको सूर्य के प्रकाश में देखना चाहती थी। मैं जानती थी कि अपने आसमानी फ्राक में मैं बहुत अच्छी लग रही हूँ। हम दोनों गुलाब की बेल से घिरे हुए बरामदे में आए। माइकेल ने एक दुःख की आह भरी। उसकी दादी—थोड़े दिन हुए—मर चुकी थी। वह अकेला था और शीघ्र ही वह डाक्टरी की परीक्षा देने जाने वाला था।

"नौवेल, अब अपनी कहो। इस आनन्दमय पुरातन संसार में तुमने क्या करने का इरादा किया है ?"

हम लोग एक दूसरे की आप बीती भी न सुन पाए थे कि मां की आवाज सुनाई दी।

"नोला, बेटी, हम जा रहे हैं।"

मैंने चिढ़ कर कहा, "अच्छा मैं भी आई।"

मैं उस चाय पार्टी को भूल ही गई थी। माइकेल ने मुझे याद दिलाई कि मैं भी जा रहा हूँ। उसने मेरी ओर विचित्र दृष्टि से देखा और तब फुर्ती से मेरे सुन्दर हाथों को अपने हाथों में लेकर उसने होठों से लगा लिया और कहा, "नोवेल, मुझे भूल न जाना।"

मैं कुछ कहने भी न पाई थी कि माँ वहां आपहुंची। यद्यपि उसका मुखमंडल सदा प्रसन्न ही रहता था तथापि आज उसकी आँखें चौकन्नी सी मालूम होती थीं। मानो वे माइकेल को ललकार रही हों।

(६)

खैर, माइकेल चला गया और मुझे हृदय में कुछ सूनापन किंवा मीठा सा दर्द अनुभव होने लगा। हम दोनों—मैं और माइकेल—क्यों नहीं परस्पर बारबार मिल सकते? और क्यों नहीं एक दूसरे के सच्चे मित्र बन जाते? मुझे उसकी मित्रता की बड़ी आवश्यकता थी। वह सच्चा, विश्वासी और सुशील था—अर्थात् मेरे ऐसे कोमल पौधे को वायु के प्रत्येक चंचल झोंके से इधर उधर झुकने से बचाने के लिए उपयुक्त दृढ़ आधार-स्तम्भ था।

स्कूल खुल गए। मैं यह समझ कर प्रसन्न हुई कि कार्टर

की शोख नजरों से और मां की वेदनापूर्ण आँखों से तो बची। अब मुझे पढ़ने के लिए 'मेक्सवेल' जाना था। जाने के पहले मैंने मां से कह दिया कि मैं अब कुछ अर्थकारी विद्या सीखना चाहती हूँ जिससे—यदि भविष्य में कभी आवश्यकता पड़े तो—मैं अपनी रोटी कमा सकूं।

मेक्सवेल में जो लड़कियां पढ़ती थीं वे सब बड़ी विचित्र थीं। घर की शिक्षा तो उनको मिली न थी। बहुत सी तो तलाक पाए हुए मां-बापों की संतानें थीं। सब परले सिरे की नाजुक और स्वच्छन्द। मेरे कमरे की संगिनी 'एलीसिया वीटी' थी, उसे देखकर पहले तो मुझे दुःख हुआ—खासकर उसकी बेहूदी बातें सुनकर मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों उसने मेरी आत्मा के भीतर किसी पवित्र तथा कोमल भावना को कुचल दिया हो। मुझे तो उसकी बातो पर लज्जा आने लगी। परन्तु वह चालाक और विनोदिनी थी, इससे मैं उसकी अश्लील बड़बड़ाहट सुनने की आदी हो गई। वास्तव में मैं उसको ईर्ष्या और प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगी थी। उसके जीवन का मूलमन्त्र बहुत सरल था, "पहले आत्मा फिर परमात्मा। अपने ही मन की करो दूसरे की नहीं। दूसरा कोई तुम्हें सुखी नही कर सकता—मातापिता भी नहीं।"

मेरे दो जोड़े मां-बापों ने मुझे इस व्ययसाध्य स्थान में क्यों भेजा? सिर्फ इसलिए कि विवाह के बाजार में मेरा मूल्य बढ़ जायगा। हमारी ऐसी लड़कियों का समाज में अपवाद

हुए बिना नहीं रहता। इससे हमारा संमान घट जाता है। अतएव यदि शिक्षा भी उचित न मिले तो हमीं लोगों को मां-बाप के अपराधों का फल भोगना पड़े। इसलिए हमको फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम कोई खोटा काम ही न करें। हम जो चाहे सो कर सकती हैं—सिर्फ इतना ध्यान रखना होगा कि पकड़ाई न दें।

(७)

एक बार मुझे एलीसिया को अपने घर ले जाने का अवसर मिला। कार्टर ने क्रोध से उस पर फबतियां कसीं। परन्तु मां ने परिस्थिति को कुछ संभाल लिया। इसके बाद हफ्तों तक मैं बड़ी बेचैन रही। एलीसिया मोके-बेमोके ईर्ष्यावश मेरे खूब-सूरत सौतेले बाप की चर्चा कर बैठती। साथ ही मुझे भी यह उपदेश दिया करती अपने मां-बाप के हृदय के मामलों में जी दुखाना ठीक नहीं। पहले अपने ही हृदय के मामलों को सुलझाना अच्छा है।

मैं इन प्रेम-चर्चाओं की ओर से बिलकुल निरपेक्ष रहती थी। मैं तो केवल माइकेल के पत्र के लिए उत्सुक थी। बहुत दिनों तक मैंने उसके पत्र की प्रतीक्षा की इस पुनीत विचार के ही भरोसे मैं अपनी पवित्रता को सुरक्षित रखने में दृढ़ रह सकी। परन्तु पत्र कभी न आया।

इससे मेरे हृदय को बड़ा कटु अनुभव हुआ। अपने 'प्रेम-रोग' पर मुझे हँसी आगई। अब मैंने निश्चय किया कि

एलीसिया ठीक ही कहती है। पहले अपने को प्यार करो—किसी का विश्वास न करो—दुनियां में कोई भी तुमको हानि नहीं पहुंचा सकता !

अब मैं भी उसी धारा में बह चली। अपनी संगनियों की सोहबत में मैं अपने को भी उनके अनुकूल बनाने लगी। मैं भी अब अच्छे अच्छे शिकार फंसाने की कोशिश करने लगी यद्यपि इस बात के विचार से भी मेरे हृदय में एक प्रकार की ग्लानि सी हो जाती। मेरी सब साथिनें सिगरेट भी पीती थीं। अपने गुट में शराब भी खूब उड़ती थी। साथ ही गंदे गंदे मजाक भी हुआ करते थे। मैं इस प्रकार के जीवन की बिलकुल भूखी न थी। पर करती क्या ?. परिस्थितियों से लाचार थी।

यहाँ पर एक दिन पिता ने लिखा कि जेनेट को एक लड़का हुआ है ; यद्यपि पिता के साथ आनन्द में मैंने भी भाग लिया, तथापि मुझे कुछ ऐसा भान हुआ कि अब मैं बहुत दूर ढकेल दी गई हूँ। गर्मियों की छुट्टियां आईं और समरसेट के उन आनन्दमय दिनों की सुखद स्मृति को भुलाने के लिये मैंने भ्रमण करने का निश्चय किया।

अब मुझे दो वर्ष तक माइकेल के दर्शन भी न हुए थे। न कभी उसका कोई पत्र ही मुझे मिला था। मैंने सोचा कि उसे

सदा के लिए भूल गई हूँ। मैंने अपने मन में कहा उसका संसार मेरा कभी न हो सकता था।

परन्तु एक दिन घर पर लेटर-पेपर के लिए मैंने अपनी गंदी मेज को जो टटोला तो क्या देखती हूँ कि दो मुड़े हुए लिफाफे एक सूराख से उसके भीतर ठूंस दिए गए हैं। मैंने उनको झाड़ पोंछ कर ठीक किया और बड़ी देर तक शून्य दृष्टि से उसकी ओर देखती रही। वे माइकेल के पत्र थे। कांपते हाथों से मैं वे दोनों पत्र शुरू से आखिर तक पढ़ गई। उनकी तारीखों का मिलान किया एक तो उसने कालेज पहुंचते ही भेज दिया था, उसने लिखा था।

"नौवेल, कभी कभी पत्र लिखा करना। तुम्हें और मुझे दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। मुझ पर विश्वास करो। मैं तुम्हें कभी न छोड़ूंगा। हां, पत्र भेजती रहना। पत्रों की महत्ता बहुत है। हमें एक दूसरे से संपर्क अवश्य रखना चाहिए।"

दूसरा पत्र कुछ दिनों बाद उत्तर में किसी नगर से लिखा गया था। माइकेल के चचा मर गए थे। उसकी चाची ने अपने साथ रहने के लिए बुला लिया था। फिर उसने वहीं एक प्रसिद्ध मेडिकल कालेज में नाम लिखा लिया। इस पत्र में भी उसने मुझसे दृढ़ रहने की और कभी कभी पत्र लिखते रहने की प्रार्थना की थी। उसने यह भी लिखा था कि

इतने दिनों से मैं तुम्हारे पत्र की प्रतिक्षा कर रहा हूँ—पर तुमने एक अक्षर भी न लिखा।

हायरे दुर्भाग्य ! मैं वहीं पाषाण-प्रतिमा की भांति निश्चल हो बैठ गई। हृदय में अनेक प्रकार के भावों की उथल पुथल मची होने के कारण छाती धड़क रही थी। ये पत्र मुझे समय पर क्यों न मिले ? क्या मां या दासी दोनों ने लापरवाही कर दी ? अथवा शायद फिर भेजने के इरादे से रोक लिए गए हों और भूल के कारण न भेजे जा सके हों !

मैंने एक कलम उठा लिया। नाड़ी की धड़कन के कारण हाथ कांपने लगा। परन्तु उसको पत्र लिखकर अपनी निर्दोषिता सूचित करना तथा उसके साथ अपना संपर्क स्थापित रखना आवश्यक था। मैंने लिखना आरंभ किया—"प्यारे माइकेल,……………………"

बस, आगे कुछ न लिख सकी। आंखों ने आंसुओं की झड़ी लगादी और उस लेटर-पेपर को ही खराब कर दिया। अब पत्र भेजने से क्या लाभ ? इतने दिन तो पत्र को आए होगये थे। कदाचित् अब माइकेल मुझे भूल गया हो। इतने में मेरी संगिनियों की आवाज सुनाई दी। अपनी रोती हुई आँखों को पोंछ पोंछ कर अपने को पूर्ववत् धृष्ट और हँसमुख बना लिया और उनके साथ हँसी खेल में शरीक हो गई। बस फिर उस दिन पत्र लिखना कैसे संभव होता ? यह अवसर फिर कभी हाथ न आया।

(८)

समय के साथ साथ भावना में भी परिवर्तन होगया। इस घटना को भी कई दिन बीत गए। माइकेल और मेरे बीच कोसों का फासला था। पत्र-व्यवहार भी नहीं। अपनी स्वच्छन्द मौजी संगिनियों में मैं भी उन्हीं के रंग में रंग गई थी। जो वे करतीं वही मैं भी करती। जो उनके विचार थे वे मेरे भी—बल्कि यह कहना चाहिए कि हम लोगों में विचार शक्ति थी ही नहीं।

मेरे स्कूल का अंतिम वर्ष था। उसी साल कार्टर-डे-लैंड ने अपना कमीनापन दिखाया और वह एक दूसरी युवती को ले उड़ा। वह युवती मां को "सुन्दरता के उपचार सिखाने आई थी। मैंने कार्टर को उस बिंबोष्ठी और मृगाक्षी की प्रतीक्षा में कार लिए हुए बाहर खड़ा देखा था। पर तब मैंने यही सोचा था कि यह केवल उसका चोचला है।

माँ ने इस विपत्ति का सामना साहस से किया और अपने चारों ओर फैलनेवाले लोकापवाद की भी परवाह नहीं की। सखियां भी सहानुभूति दिखाने आईं और कहने लगीं।

"चलो, अच्छा ही हुआ उस लुच्चे से पल्ला छूटा।"

मुझे भी उसके चले जाने से मनही मन प्रसन्नता हुई और मैंने चैन की सांस ली। परन्तु इसका मूल्य मां को बहुत अधिक चुकाना पड़ा। इससे मां की निन्दा फैलने लगी। तब

मुझे इस बात का अनुभव नहीं था कि स्वाभिमान को ठेस लगने पर आचरण की जड़ में घुन लग जाता है और निन्दा फैलने पर मनुष्य उसकी ओर से आंखें बंद कर के खुल्लम खुल्ला पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। यही हाल मां का भी हुआ। दो बार तलाक! बहुत दिन पीछे मुझे यह ज्ञात हुआ कि उस दिन से मां का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरने लगा था।

मैंने अपनी मां से प्रार्थना की, "मां, अब की जाड़ों में मैं तुम्हारे साथ रहूँगी। मैं उस समय मां बन गई थी और वह लड़की। मैंने सोचा कि हम दोनों साथ-साथ अपना समय काटेंगे। शायद वह राजी भी होजाती। पर मां का एक दूसरा प्रशंसक, 'लॉयड स्ट्रेटन' वहां आ पहुंचा। इससे मेरा निश्चय भी बदल गया।

लॉयड स्ट्रेटन प्रभावशाली पुरुष था। अवस्था ३० के लगभग पहुंच चुकी थी। उसकी आकृति रूखी, आंखें तीखी और चमकती हुई सी थीं। सुन्दर तो वह था नहीं। फिर भी उसकी गुस्ताखी में कुछ एक प्रकार का जादू सा था। वह एक निर्धन घराने का था। महत्वाकांक्षा ने उसको राजनैतिक क्षेत्र में उस छोर तक पहुंचा दिया था जिसके लिए लोगों को स्पर्द्धा हो सकती थी। अब रुपया जोड़कर वह मालदार होगया था। निमंत्रणों में कोई उसे भूलता नहीं था।

मां अपने इस अप्रत्याशित प्रेमी से मिलने की तैयारी में

सुसज्जित हो रही थी। मैं पिछवाड़े की सीढ़ियों के रास्ते बगीचे में भाग चली। यह दृश्य मुझसे सहन न हो सका।

एक वयोवृद्धा पड़ोसिन की संगति से मुझे अस्पताल में रोगी बच्चों को फूल भेंट करना बहुत अच्छा लगता था। उन रोगी दयनीय छोटे छोटे बालकों के प्रति मेरे हृदय में एक प्रकार का मोह सा हो गया था। विशेपकर एक काली काली आंखों वाले लुंज 'सोनी' के प्रति। सोनी को चारपाई पकड़े साल भर हो गया था। मैंने उसको कभी कराहते न सुना। वह अपने ढेर के ढेर खिलौनों को अंकवार दिये हुए उत्सुक नेत्रों से देखा करता और एक के बाद एक तमाशा किया करता। मुझे उसकी यह लीला बहुत भाती थी। इससे मैं उसके पास प्रायः जाया करती थी।

(६)

इसी अभिप्राय से मैं चुने चुने गुलाब तोड़ने लगी। साथ ही सोनी के संबंध में अनेक विचार मेरे मन में आने लगे एकाएक मैंने अपना सिर उठाया तो क्या देखती हूँ कि एक कुंज से लॉयड स्ट्रेटन मुझे घूर रहा है। मेरे तो सारे शरीर में मानो आग लग गई—मेरा मुंह तमतमा उठा। उसका इस प्रकार घूरना मुझे बहुत बुरा लगा। ज्योंही उसकी शोख आंखें गुलाब के फूलों पर पड़ीं। उसने शान्ति से कहा, तुम स्वयं इन्हीं गुलाब के फूलों की भाँति सुन्दर हो। नौवेल, जब मैंने पहले पहल तुमको देखा तभी मैंने समझ लिया था कि तुम मेरे लिए

उपयुक्त हो। प्रिये, नाराज मत होओ। परन्तु मुझे भूलमत जाना और मेरे इस प्रश्न पर विचार करना। मैं तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा करूंगा।"

मैं कांप रही थी। उसे झिड़क कर कुछ कहना ही चाहती थी कि वह मुड़कर चला गया। मां छज्जे पर थी। मैं जल्दी जल्दी फूल तोड़ कर चली। मैंने सोचा कि वह तो उम्र में मेरे पिता के बराबर होगा। संभव है मेरे सुनने या समझने में भूल हुई हो।

उस दिन मैं सोनी के साथ देर तक न रही। उसकी मां वहीं थी। उसके वस्त्र साधारण थे। चेहरा मुरझाया हुआ सा और पीला था। नीली और बड़ी बड़ी आंखों में निराशा का भाव झलक रहा था। वह बार बार मेरी ओर ताकने लगती थी। उसकी दृष्टि से यही जान पड़ता था कि उसने बड़ी बड़ी यातनाएँ भोगी हैं।

शीघ्र ही मैं एलीसिया आदि सखियों के बीच वापस चली आई। मेक्सवेल मेनर का अंतिम वर्ष मानो उन्माद का स्वप्न था। सबक भी होते थे और खेल-कूद भी। अधिकारियों की निगरानी में कलाभवनों और संगीत-समाजों की यात्रा भी होती थी। कभी कभी कुछ मौजी जीवों का दल का दल अवसर पाते ही बंधन से मुक्त होकर रंगरलियां मनाने निकल खड़ा होता।

इस प्रकार का जीवन मुझे उपयुक्त नहीं जान पड़ता था। कभी कभी विलनर खानदान का अंश मेरे अंतःकरण में विरोध कर बैठता था। मेरा भविष्य न जाने कैसा होगा? आखिर स्कूल छोड़ने पर मैं क्या करूंगी? इत्यादि विचार मुझे सताने लगे। वर्षों तक इस प्रकार के नाच-गान, ऐशो—इशरत, खेल-कूद, यात्रा आदि में ही जिन्दगी बितानी पड़ेगी—इसके विचारमात्र से ही मेरी आत्मा कांप उठती थी। ऐसी जिन्दगी से मैं ऊब उठी। मैंने निश्चय किया कि कर्महीन मौजी जीवन तो किसी काम का नहीं। मेरे मन में एक जागृति सी हुई। मैट्रिक्युलेशन पास करने के उपरान्त मैंने मां से कहा, "अब मैं कुछ अर्थकारी विद्या सीखना चाहती हूँ। मुझे इस दुनियां में कुछ वास्तविक कार्य करना है। अन्यथा मैं स्वयं अपने जीवन से घृणा करने लगूंगी!"

पारितोषिक वितरण का दिन आया। मां और लायड स्ट्रेटन भी उपस्थित हुए। बस तब तो मानो मेरा जीवन खौलते हुए पानी में पड़ गया।

मैंने मां को बहुत दिनों से नहीं देखा था। अतएव उसकी सूरत देखते ही मैं चौंक उठी। वह बहुत दुबली-पतली होने के साथ ही हद दरजे की चिड़-चिड़े स्वभाव की होगई थी। उसकी हँसी हृदय को वेधने वाली थी और उसकी आंखें भी कुछ अजीब सी होगई थीं। उसकी इस प्रकार की दशा देखकर मैं कांप उठी। नाच के समय मां की तबियत खराब होगई और

वह अकेली ही होटल को लौट गई। मैं उसके साथ जाना चाहती थी। पर उसने मेरी एक न सुनी और कहा तुम यहीं रहो जिससे लायड को बुरा न लगे।

यौवनोन्मुखी दुबली-पतली छात्राओं में लायड ने एक प्रकार की हलचल सी मचादी। मुझे तो बड़ा आनन्द आया। उसका स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का प्रभावोत्पादक साथ ही मधुर था। वह नाचा और सब को उसने अपने व्यवहार से प्रसन्न कर लिया। सभी लड़कियां उससे मिलने के लिए उत्सुक थीं।

भीड़भाड़ में तो यह सब ठीक था। बाहर सुन्दर चांदनी छिटक रही थी। हम दोनों अकेले होटल की ओर चले जारहे थे। एकाएक मेरे मन में उसके प्रति पूर्व अविश्वास जाग्रत हो उठा। वायु में एक प्रकार की मादक गंध थी। कुछ प्रेमपूर्ण शब्द कहते हुए लायड ने मुझे अपने बाहुपाश में बांध लिया। इतने निकट कि मुझे उसके उन्मत्त हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई दी।

"मेरी नोला, तुम मेरी हो। अब मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मेरे हृदय की रानी, प्यारी नोला, क्या तुम अब राज़ी हो?"

पहले तो मैंने अपने को उससे छुड़ाने का निष्फल प्रयास किया। मेरी हालत कुछ अजीब सी होगई। उसने मेरे ऊपर न जाने क्या जादू सा कर दिया। ऐसा अनुभव मुझे पहले कभी

नहीं हुआ था। क्या यही वह प्रेम है जिसके बारे में मैंने बहुत कुछ सुना है और जिसके मैंने सुमधुर स्वप्न देखे हैं ? ओफ ! नहीं ऐसा नहीं हो सकता। नहीं तो मुझे इतनी लज्जा क्यों मालूम पड़ती ? और मैं अपने को अपराधिनी क्यों समझती ? मैंने फिर अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया और कहा,—

"मैं तुम्हारा विश्वास नहीं करती। फिर मां भी.......... ।"

उसने मुसकुराते हुए कहा,

"तुम्हारी मां इस पर कुछ भी आपत्ति न करेगी—कुछ कहने का साहस भी न कर सकेगी। इसके अलावा अब वह युवकों को चाहने लगी है। नोला, जब तुम घर जाओगी तो वहां एक नवीन व्यक्ति दिखाई पड़ेगा। माइकेल लौरेंस और तुम्हारी मां....... "

मैंने अपना हृदय कड़ा किया। मेरा खौलता हुआ खून बर्फ की भांति जमने लगा। लायड मुझे प्यार से आलिंगन करते हुए बड़बड़ाता रहा। उसने कहा—

"पर चिन्ता नहीं, नोला, तुम और मैं—हां, केवल तुम और मैं.............. ।"

मैंने गुस्से में आकर उससे अपने को छुड़ा लिया और सिसकते हुए कहा,

"छोड़ दो मुझे। अगर अब तुमने मुझे स्पर्श करने का प्रयत्न किया तो मैं सहायता के लिए चिल्ला बैठूंगी। अब मुझे

मां के पास ले चलो। खबरदार, आगे से मुझसे ऐसी बातें मत करना। मैं तुमसे घृणा करती हूँ।"

उसे मेरी बातों की सत्यता पर विश्वास नहीं हुआ। वह कहने लगा "तुम कंटीले गुलाब की तरह हो। पर मैं तो तुम्हारी आत्मा को प्यार करता हूँ।"

वह जो चाहता था कर लेता था। उसने सोचा था कि मैं स्वेच्छा से उसे पसंद कर लूंगी!

उससे छुटकारा पाने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे मेरा शरीर ही नहीं आत्मा भी अपवित्र होगई है। मैं इतनी भ्रष्ट होगई हूं मानो मैंने कोलतार के खंदक में डूबकी लगा ली हो। इधर माइकेल का विचारमात्र मेरे लिए सुमधुर संगीत के समान था।

मैंने उस रात को सोने के पहले मां से माइकेल के बारे में पूछताछ करने का निश्चय किया। मैंने दरवाजा खटखटाया और भीतर चली गई। बिजली का प्रकाश हो रहा था। किंतु मां गहरी नींद में सोई थी। वह एकदम अचेतन हो रही थी। मैंने देखा, गौर से देखा। मेरे मन में एक प्रकार की मनहूस शंका हो उठी। आखिर माजरा क्या है? मां इतनी बुरी तरह से बदल गई है, अगर वह बीमार थी तो उसने मुझसे छिपाया क्यों?

उसके होठों का रंग उड़ गया था और वे एकदम मोम की तरह सफेद पड़गये थे। मुझे तो वह जीतेजी मृतक की तरह

मालूम पड़ी। धीरे से मैंने उसे ओढ़ा दिया और चुपके से चल दी! रातको हम दोनों के कमरों के बीच के द्वार हवा के झोंके से धड़ाक से भिड़ गये। मां डर के मारे चिल्लाती हुई जाग पड़ी। जब मैंने उसको स्पर्श किया तब उसने जबर्दस्त हाथों से मुझे ढकेल दिया। मैंने बड़े प्रेम से कहा,

"क्यों मां, क्या बात है ? मां मैं तो नोला हूँ।"

वह भयभीत बच्चे की तरह कांपने लगी। मैं उसके बिखरे बालों पर हाथ फेरती हुई उसके पास बैठ गई। मैंने बार बार उससे कहा,

"मैं तुम्हारी टहल करने को तुम्हारे साथ ही घर चलूंगी, अब तुम्हें कभी न छोडूंगी।"

तब कुछ डरते डरते मैंने माइकेल के संबंध में पूछा। अचानक उसके चेहरे की शान्ति हवा होगई। उसकी आँखें लाल होगईं। उसने कड़क कर पूछा यह गप किसने उड़ाई ?"

बातों ही बातों में सिर्फ इतना जानपाई कि मेरा पुराना साथी वापस आगया है और वह कई बार हमारे घर भी आया था। मेरी मां को इधर कई दिनों से सिरदर्द की शिकायत थी और माइकेल की सेवा से उसे शान्ति मिलती थी।

मैं उसे छोड़कर अपने कमरे में चली गई। पर अब मेरी नींद कहां थी ? मेरी मां मुझसे झूंठ क्यों बोली ? उसकी आँखों से झूठ साबित हो रहा था। मेरे हृदय को बड़ा आघात पहुंचा।

मैं घबड़ा सी गई। शक और परेशानी दोनों ने मेरे मन को कुहरे की भाँति ढक लिया।

निराश हृदय से मैं बच्चों के अस्पताल में गई। मुझे उस नीली नीली आँखों वाले बहादुर छोटे सोनी के स्वास्थ्य के बारे में जानने की बहुत उत्कंठा थी। इसलिए मैं अपने क्रोध और शोक को दबा कर सोनी को देखने चली गई।

(१०)

नर्स से मुझे यह मालूम हुआ कि इस समय अस्पताल में डाक्टर लौरेंस की बारी है। मेरा उत्साह फीका पड़गया। सोनी ने प्रसन्नता से मेरा स्वागत किया और अपने नये डाक्टर के बारे में कई नई नई बातें सुनाईं। उसनें मुझ से पहिये वाली कुर्सी में बाहर लेजाने की प्रार्थना की। उस दिन संध्या को मैं सोनी को टहलाती और बहलाती रही। परन्तु माइकेल मुझे नही दिखाई दिया।

और एक दिन बिना किसी पूर्व सूचना के मैं इस नाटक के भँवर में फँस गई। लहरों ने मुझे चारों तरफ से घेर लिया।

उस दिन रात को मैं नाचघर से जल्दी लौट आई थी। मां को मेरे इतनी जल्दी लौटने की उम्मीद न थी। मां के कमरे के सिवाय सारे घर में अंधकार था। मैं चुपके से भीतर गई। पर सीढ़ी के पास पहुंचते ही मैं आश्चर्य से ठिटक गई। मुझे कुछ

बातचीत सुनाई दी। पहली आवाज मां की थी गिड़गिड़ाती हुई और अस्पष्ट—

"मुझे छोड़ दो। मैं इसके योग्य नहीं हूँ। अब मैं अधिक सहन नहीं कर सकती। मुझे एकान्त में रहने दो। बस, अब एक कार्य और करने को रहगया है..............."

"नहीं, मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगा। परन्तु नौवेल को इसकी सूचना दे देना ठीक होगा।"

यह आवाज कठोर, स्पष्ट एवं परिचित थी। मैंने जंगले को जोर से पकड़ लिया और उस पर इस प्रकार अचेतन सी झुक गई मानों मेरे शंका रहित सिर पर आकाश टूट पड़ा हो, मानों मेरा हतभाग्य मेरी ओर कुटिल दृष्टि से देखकर मेरा मजाक उड़ा रहा हो। माइकेल और मां! मेरा सिर क्रोध से चकरा गया। मैं घायल सी हो दरवाजे के पास जा पहुंची और धक्का देकर किवाड़े खोल दिये और माइकेल को बुरा भला कहने लगी। उसने मेरे बकने की ओर ध्यान न दिया। इस प्रकार शान्त रहा जैसे मानों कुछ हुआ ही न हो। माता कुछ बावली सी होगई थी और पास ही ड्रेसिंग टेबल से कुछ चीज उठाने की चेष्टा कर रही थी। माइकेल को उसे रोकने में काफी बल प्रयोग करना पड़ रहा था। माता के कंधे पर से सुनहला कपड़ा खिसक गया था और उसके सुन्दर बाल उसकी सफेद गर्दन में बिखरे पड़े थे।

मैं गूंगी की तरह खड़ी रह गई। अपनी आँखों पर मुझे विश्वास नहीं आता था। मां का सिर पीछे की तरफ गया और वह बेतरह रोने लगी। इसलिए उसका रहस्य जानने के लिए उसके पास जा पहुंची।

(११)

ओफ, यह एक भयानक स्वप्न था! वह कराहती हुई बिछौने पर गिर पड़ी। माइकेल और मैं एक दूसरे की ओर देखते हुए न जाने कितनी देर तक खड़े रहे।

उसने अत्यन्त नम्रता से कहाः—

"नौवेल, मुझे खेद है कि यह घटना अभी होगई। परन्तु आज नहीं तो कल एक न एक दिन तुम्हें यह जानना ही पड़ता।"

मैंने अवज्ञा पूर्वक उसे चुप रहने का संकेत किया और क्रोध पूर्वक मां से कहा—

"मां, तुम्हें मुझ से कुछ कहना है क्या?"

वह कांपने लगी और अधीर होकर मुझे धकेलने के लिए उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया और मुझे धमकाते हुए कहा—

"ओह नोला, तुमने यह सब क्या किया? तुम अभी अबोध बालिका हो। यह सब क्या समझोगी?"

मैंने हाँफते हुए कहा—

"मां मैं जारही हूं........"

मेरा गला रुंध गया। मानो घाव के कारण दर्द होगया हो। फिर भी मैंने कहा—

"और सुनो, आज से सदाचार का तिरस्कार करती हूँ। मैं यह सब करना नहीं चाहती थी। पर अब मैं लायड के पास जा रही हूँ। अगर तुम इस प्रकार के कार्य कर सकती हो तो मैं भी कर सकती हूँ। मैं विवाह भी नहीं करूंगी—एकदम स्वच्छन्द रहूँगी। कुछ भी हो, मैं हूँ भी तुम्हारी ऐसी मां की ही पुत्री।"

ऐसा कहती हुई मैं कमरे से बाहर निकल पड़ी और इतनी तेजी से सीढ़ियां उतर गई मानो कोई मेरा पीछा कर रहा हो। अब मैं भागने का इरादा कर चुकी थी। माइकेल ने मुझे पुकार कर कहा,

"जरा रुको। मुझे तुमसे एक आवश्यक काम है।"

उसके पैरों की ध्वनि मेरे पीछे पीछे सुनाई दे रही थी। परन्तु निराशा ने मुझे पंख लगा दिये। मैं अपनी छोटी कार में चढ़ी और बेपरवाही से उसे आम सड़क पर बेहताश भगा दिया। सामने की सड़क की मरम्मत अभी अच्छी तरह न हो पाई थी। मैं यह नहीं जानती थी। कोई आगाही की सूचना भी मुझे सड़क पर न दिखाई दी। मैं तो एकदम लापरवाह और अंधी हो गई थी। माइकेल की मोटर के भोंपू की ध्वनि बार बार आने लगी। मुझे सावधान करने के लिए बार बार उसके

चिल्लाने की आवाज भी मेरे कानों में आरही थी। परन्तु मैं तब तक नोटिस वाले खम्बे से टकरा ही चुकी थी। ब्रेक पर हाथ दौड़ा तो पर देर में। चटाख से आवाज हुई और मैं घने अंधकार मैं सड़क के किनारे गिर पड़ी। मेरी मोटर के साथ ही मानो दुनियां का सब कारबार बन्द होगया।

होश में आने पर मैंने देखा कि मैं अपने ही कमरे में लेटी हूँ। मेरे सारे शरीर में दर्द हो रहा था। मेरे सिर और बाएँ हाथ पर मजबूती से पट्टी बंधी थी। मुझे ऐसा मालुम पड़ा कि जैसे मेरा सारा शरीर कुचल गया हो और हड्डी चूर चूर होगई हो। कुछ समय तक जब मुझे पीड़ा हुई तो सब बातें एक एक कर याद आने लगी। मैं चौंक पड़ी और रोने लगी। परन्तु किसी के मजबूत हाथ ने मेरे हाथ को पकड़ लिया और बंधी हुई पट्टी के बीच से मैंने थकी हुई परेशान दो आँखों को देखा। ज्यों ही मैंने उन आँखों की ओर देखा त्यों ही न जाने कैसे मेरा क्रोध, मेरी निराशा, मेरी कठोरता सब के सब न जाने कहाँ गायब हो गये—और वे भी सदा के लिये। शायद ज्ञान की दिव्य ज्योति का प्रकाश होने पर पापात्मा के मन में भी ऐसे ही भाव उठते होंगे।

मैं माइकेल के बाहुपाश में बंधी हुई सिसक रही थी। वह मेरे पास था। इससे मुझको अब किसी बात की चिन्ता नहीं थी। बस आवश्यकता केवल एक बात की थी—वह यह कि

माइकेल मुझे इस शंका और पराजय की निष्ठुर भूलभुलैयां से मुक्त करने में मेरा पथ-प्रदर्शक हो। अब मुझे प्रतीत हुआ कि मैं सदा माइकेल की प्रतीक्षा करती रही थी। मैंने धीरे से कहा,

"माइकेल, अब मुझे मत छोड़ना।"

उसने भी प्रतिज्ञा की,

"नोवेल, मैं तुम्हें कभी न छोड़ूंगा। मैंने आज तक तुम्हें अपने हृदय में छिपा रखा है। क्या इस पर विश्वास करोगी नोला ?"

मैंने गंभीरता से सिर हिलाया और यह स्वीकार किया कि मैं पागल होगई थी। लायड के पास तो मैं भूलकर भी न जा सकती थी।

माइकेल ने रुखाई से कहा,

"अगर तुम सोनी को प्यार करती होती तो लायड के पास कभी न जाती। लायड स्ट्रेटन सोनी का बाप है। नौवेल, वह बच्चे की मां के पास बरसो रहा। उसने उससे विवाह करने की प्रतिज्ञा की। भाग्य से राजनैतिक क्षेत्र में उसे प्रतिष्ठित पद मिल गया। उसने बेचारी और उसके बच्चे को छोड़ दिया। नौवेल, वह रुखा, हृदयहीन और जाली व्यक्ति है। मैं तुम्हें उसके पास कभी न जाने देता।"

(१२)

तब माइकेल ने मुझे मां के विषय में सब बातें समझाईं। उसने कहा,

ऐसी भी रातें आई जब हम को भय हुआ कि लड़ाई में आज तो हम हारे। मां एक समय खिले हुए पुष्प की भांति सुन्दर थी—आज एक सिड़ी के समान बकबक कर रही थी और सिवाय नशे की धुन के न कोई बात सुनना ही चाहती थी न कुछ देखना ही। वे भी दिन थे जब उसने मुझे अपने से दूर भगाने का जाल रचा था और मुझसे लड़ी भी थी। उन दिनों की बातें याद आने पर अब भी कांप उठती हूँ। यह केवल माइकेल का सच्चा प्यार और दृढ़ साहस था जिसने मुझे अपने उद्योग से विचलित न होने दिया।

उन्हीं दिनों, जब मैं एक ओर इन चिन्ताओं में परेशान थी, मुझे एक और दारुण समाचार सुनना पड़ा—किसी दंगे में मेरे पिता मार डाले गये थे।

पिता के लिए शोक भी मुझे लुक छिप कर मनाना पड़ा। अपना दुख मां से छिपाना था क्योंकि अब वह मेरी गति-विधि पर पूरी नजर रखने लगी थी।

आखिर हम लोगों के उद्योग के सफल होने के आसार दिखाई देने लगे। अब उसकी उग्रता और भीषणता धीरे धीरे गायब हो चली थी। अपने व्यसन की खातिर गिड़-गिड़ाना भी अब थम गया था। परन्तु अब वह इतनी दुर्बल और बेचैन होगई थी कि उसे देख कर तरस आता था। मैंने उसे इतना नम्र, इतना दीन कभी न देखा था।

(१४)

माइकेल ने बड़े स्नेह से मां की सेवा की। उसने मुझे इस बात से भी सावधान कर दिया कि यह परिवर्तन कहीं प्राण-घातक न हो बैठे। मैं एकान्त में खूब जी भर रोई। परन्तु जब मैंने देखा कि वह क्रमशः शान्त होरही है तब मैंने चैन की सांस ली और मन ही मन कहा,

"भगवन्, तेरी इच्छा के सामने मेरी इच्छा की क्या बिसात ?"

मां की इच्छा थी कि हम दोनों का विवाह होजाय। अतः ईस्टर के अवसर पर—जब चांदनी के समान स्वच्छ कुमुदिनी खिल रही थी, सारा संसार नवीन जीवन, नई आशा और नूतन स्फूर्ति से परिपूर्ण हो आनन्दमय राग में मस्त था—तब हम दोनों, माइकेल और मैं, वैवाहिक पवित्र प्रतिज्ञाओं का उच्चारण कर सदा के लिए प्रेम बंधन में बंध गये। मुझे उसकी आवश्यकता इतनी शायद पहले न थी जितनी इस समय जान पड़ी। क्योंकि जैसे उषा की सुनहली किरणें चुपके से इस आनंदमय संसार से तिरोहित हो जाती हैं वैसे ही मां भी अनन्तता के सागर में विलीन होगई।

अन्त समय उसने अपनी आँखें खोली और मेरी ओर देखा। फिर अन्तिम बार मुसकराई। अपने उसी पुराने आनन्द-

भी महात्माजी के गले में डाले हुए हार के ही समान प्रतीत होती थी। प्रतिच्छाया स्थिर थी। पर ज्योति के हिलने के कारण ऐसा आभास होता था कि महात्माजी चल रहे हों और साथ ही गले में पड़ा हार भी हिल रहा हो। विजय हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा था। अशोक भी वह दृश्य देखता वहीं खड़ा रहा।

विजय के गान के अन्तिम शब्द समाप्त होते ही अशोक ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और सहज ही उसके मुँह से "वन्दे-मातरम्" शब्द निकल पड़े। साश्चर्य घूमकर विजय ने द्वार की ओर देखा—अशोक हाथ जोड़े निश्चल खड़ा था।

"नमस्ते अशोक", अशोक के समीप आकर विजय ने कहा और उसके दोनों अंजलि-बद्ध हाथों को उसी तरह पकड़े हुए उसे पास ही पलंग पर ला बैठाया।

महात्माजी के लिए पूर्ण आदर रखने वाले विजय के कमरे में दो नवयुवक बैठे थे। कमरे का सब कुछ सामान "स्वदेशी" होने से उसे एक "स्वदेशी भंडार" का रूप दिया सा प्रतीत होता था। पलंग पर ग्रामीण हाथों से करघों द्वारा बुनी दरी और उसके अनुरूप ही खादी की एक चादर और तकिया उसके ऊपर। एक कोने में विजय ने अपने हाथों से बनाई हुई तिपाई रखी थी। उस पर खादी का शुभ्र आवरण था। उसके ऊपर देशी-कांच-कम्पनी के बने लाल उभरे हुए बेल बूटों वाले फूलदान में

प्रतिदिन की भांति डंठल सहित चार या पांच गुलाब के फूल रखे थे। पास ही "श्रीमद्भगवद्गीता" रखी थी।

"अशोक, आज सुबेरे ही सुबेरे इधर कैसे ?" विजय ने प्रश्न किया।

"गांधी के एक निरभिमानी भक्त के दर्शनों को ?" अशोक ने उत्तर दिया।

"अशोक, भक्त कभी निरभिमानी नहीं होते।"

"कदाचित् किन्ही असामान्य व्यक्तियों का गुण होता है।"

"अच्छा, पर यहां आने का कारण तो बताओ।"

आजकल की राजकीय और सामाजिक परिस्थिति पर स्वच्छन्दता-पूर्वक चर्चा करके अशोक चलने के लिये उद्यत हुआ, उठा और द्वार तक गया। पर कुछ स्मरण हो आने पर परावर्तित मुड़ कर बोला—

"अच्छा विजय, न जाने अब हम तुम कब मिलें ? पर मैं अपना पत्र................जाने पर भेजूंगा !"

"ठीक है अशोक। पत्र लिखना भूल मत जाना। अवश्य। अवश्य................।"

अशोक और विजय हाईस्कूल से ही सहाध्यायी और मित्र थे। आज उनका सम्बन्ध मित्रत्व की परम सीमा अर्थात बन्धुत्व तक पहुंच गया था। परन्तु उनके मतों में दो ध्रुवों के अन्तर के समान ही महान् अन्तर था। अशोक हिंसावादी था तो विजय पूर्णतया गाँधीजी का मतानुयायी—अहिंसा का पुजारी। "दुर्बलता ही राष्ट्रीय अपराध है" ऐसा अशोक कहता तो "सबल अवश्य होना चाहिए पर उसका प्रयोग हिंसा के लिए न करना चाहिए" इस मत का प्रतिपादन विजय करता। अनेक संकटों का सामना करके विजय विजयी हुआ था। परन्तु अशोक का जन्म समृद्ध घराने में होने के कारण उसे दुःखो का कभी अनुभव भी नहीं हुआ। परन्तु भिन्न-भिन्न मतों के अनुयायियों में अधिक आकर्षण होता है और कभी कभी ऐसे लोगों की मित्रता आदर्श बन जाती है।

एक विषय में ये दोनों मित्र एकमत थे और वह था "मातृभाषा का अभिमान"। दोनों को अपनी मातृभाषा का बहुत अभिमान था। "एक बार देश की स्वतन्त्रता चली जाय तो कुछ परवाह नहीं। उसे हम वापस ला सकते हैं, परन्तु भाषा की एकबार भी खोई हुई स्वतन्त्रता फिर प्राप्त नही होती।" इस प्रकार के मतों का प्रतिबिंब उनके सम्भाषणों में सदा दिखाई देता था।

"अहिंसा से ही हिंसा का पराभव" करने का दृढ़ निश्चय कर विजय असहयोग आन्दोलन में भाग लेने लगा। परन्तु

इस बारे में अशोक की विजय से न बनी। स्वदेश और साम्रा-ज्य-रक्षण को प्राप्त हुई सन्धि का लाभ उठाकर समर भूमि में लड़ने का संकल्प कर वह वैमानिक-शिक्षा के लिए करांची चला गया।

"वन्दे मातरम् करांची

दिनांक............... जून १९४०

प्रियवर विजय,

मित्र को पत्र लिख कर अन्तःकरण की उथल-पुथल को उसके सामने स्पष्ट करने के सिवाय अपने मन की अस्वस्थता निराकरण करने का कोई दूसरा उपाय मुझे नहीं दीखता। विजय, मैंने एक जगह पढ़ा है कि पत्र भी अपने ही समान होते हैं। अगर वे ऐसे न हुए तो कमी सी मालुम होती है और उस कमी का अनुभव होते ही चित्त में एक खिन्नता—एक अवसाद सा छा जाता है। कदाचित् उस लेखक का वैसा अनु-भव होगा। पर मुझे तो पत्र लिखने में ही आनन्द मालूम होता है। इधर बहुतों से मेरी मित्रता हुई है। प्रति दिन नई नई शिक्षा ग्रहण करना ही मेरा ध्येय है। विजय, एक बार तुम्हीं ने तो कहा था कि "सिद्धि की अपेक्षा संकल्प में अधिक मिठास होती है।" यही अनुभव मुझे हो रहा है। 'मुझे कुछ करना है और वह केवल अपने लिए नहीं सारे संसार के लिए करना है' वही अनुभव करने से मुझे अपने त्याग का कुछ महत्व-सा जान

पड़ता है। प्रेम की कसौटी त्याग है। पर त्याग की परीक्षा को निःस्वार्थ भाव से किए गये प्रत्यक्ष कार्य ही की कसौटी चाहिए। तुम्हारे और मेरे मत शायद भिन्न हैं। पर मैं पत्र द्वारा अपने मत को तुम्हारे सामने प्रकाशित करूंगा। यह तुम्हें कभी अप्रिय न होगा—ऐसा मेरा आत्म विश्वास है। मित्र का पत्र अर्थात् जीवन की मिठास ! है न सच ! बोलो।

घर-द्वार से बाहर निकला हुआ नवयुवक कभी भी सुखी नहीं रहता, ऐसा किसी ने कहा है। परन्तु इसका कारण बाहर का संसार न होकर निज की ही कमजोरी है। घर-बाहर का यशोमन्दिर द्वार की देहरी से आरम्भ होता है। तब क्या वहाँ तक पहुंचने के लिये उसे लांघना आवश्यक नहीं है ? "सबसे कठिन काम तो घर की देहरी को ही लांघना है।" यह एक प्रवासी का कथन है। पर मैं तो कहता हूँ कि घर से बाहर निकलने की अपेक्षा बाहर से ही यशोमन्दिर में प्रवेश करना कहीं अधिक कठिन है। इसलिए यशोमन्दिर की पहली सीढ़ी घर द्वार की देहरी है और आज मैंने उसको लांघ लिया है।

संगठन ही उसके आगे की सीढ़ी है-और यही सबसे कठिन सोपान है। परन्तु प्रयत्न करने पर इस पर आरोहण करना भी कठिन नहीं। 'आजकल साम्राज्य-सरकार ने "न्याय-युद्ध" को आरंभ किया है और इसके लिए मैं आज यहाँ १०००

मील दौड़ता आया। परन्तु यहाँ सोची हुई परिस्थिति नहीं है। कोई भी काम पहले कठिन और असाध्य दीखता है। परन्तु उसके लिए प्रयत्न करते ही वह "ग्रह" न जाने किधर चला जाता है। संसार में सत्यता का होना आवश्यक है। परन्तु प्रतारणा भी विवाह के समय क्षम्य होती है। आज के अनुभव से मैं निश्चित कह सकता हूँ कि सत्य चाहे कितना भी पर्वत के समान अमोघ हो तो भी वज्र के समान प्रचलित युद्ध के सामने वह चूर चूर हो जावेगा। अहिंसा ही कदाचित् सहृदयता का लक्षण होगा—परन्तु साम्प्रत युद्ध में वह दृष्टि काम न देगी। गांधी के इस तत्व के अनुयायी आज सहस्रों की संख्या में हैं। पर वे निशस्त्र हो तोपों के सामने खड़े हो हो कर प्रतिपक्षियों द्वारा छोड़े गये बारूद गोलों का सामना न कर सकेंगे और न वे गोले ही उस अहिंसा के सामने अवनत-शिर हो सकेंगे। काश, ऐसा ही हो तो हिरन मारने के लिए छोड़ा हुआ बाण मार्ग में ही नत-शल्य होकर स्तब्ध रह जाय। सत्य का प्रभाव आज जितना मंद होगया है अहिंसा और निःशस्त्र असहकारिता का भी प्रभाव उतना ही मन्द हुए बिना न रहेगा। फिर विजय, इस निष्फल प्रतिकार का अवलंबन करने का अट्टहास करना अपनी ही मूर्खता का प्रदर्शन करना है।

अच्छा, विमान पर जाने की सूचना आगई। तुम्हारे उत्तर की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सदा तुम्हारा ही
अशोक

× × ×

श्री.

"विजयाश्रम.

दिनांक............जून १९४०

प्रिय अशोक,

पत्र मिला। आनन्द हुआ। वैमानिक शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जिस दिन तुम यहाँ से करांची गये उसी दिन 'हरिजन' में महात्माजी का एक मार्ग-दर्शक लेख आया था। अशोक "क्ष" किरणों का उपयोग डाक्टर ही जानते हैं। नेत्र को प्रज्वलित दीपशिखा से क्या लाभ? तुम यशोमंदिर की दूसरी सीढ़ी पर खड़े हो यह पढ़कर अत्यानन्द हुआ। अशोक, किसी भी बात को एक दम स्पष्ट कह बैठना प्रायः अयोग्यता में गिना जाता है।

किसी भी विभूति के प्रति प्रथम उद्‌गार निकालते समय अत्यन्त विचारपूर्ण होना पड़ता है। किसी भी व्यक्ति के निजी सिद्धान्त के गुणावगुण की विवेचना करने की अपेक्षा उसके कार्य की ओर ही अपनी दृष्टि को केन्द्रीभूत करना चाहिये। कुछ भी हो, एक बात तो तुम जरूर मानोगे कि गांधी एक असामान्य व्यक्ति हैं। उनकी वक्तृत्ता और संगठन-स्थापन की कुशलता श्लाघनीय है। किसी महात्मा को अपना पथ-प्रदर्शक बनाना उचित है या

केवल मूर्ति की भांति उसकी उपासना करना ही ? यह प्रश्न प्रत्येक के मन में उठ सकता है। मेरे लिए तो महात्माजी में प्रचण्ड कार्य करने वाली दैवी शक्ति है और प्रतिदिन मैं उनकी उपासना करता हूँ। इसका कारण उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भक्ति ही है। महात्मा की मार्दवता, बृहस्पति की विद्वत्ता, श्रीकृष्ण के समान तत्वज्ञान प्रतिपादन करने की शक्ति तपस्वी की ध्येय-जागृतता, आदि असामान्य सद्गुणों का उनमें एकत्र समावेश है। ऐसी-विभूति अर्थात महात्मा गांधी मेरे उपास्य देवता हैं और जब तक मेरा अन्तःकरण मुझे उनके उच्चत्व की साक्षी देगा तब तक मैं उन्हीं की सेवा करूँगा। समाज के डर से ध्येयच्युत होना ही आत्म-विश्वास की कमी है और अपने मार्ग से च्युत होना है। समाज प्रत्येक व्यक्ति या प्रसंग के बारे में सदा अपनी प्रतिकूल ही धारणा व्यक्त किया करता है और करेगा। परन्तु उसकी अवज्ञा कर हँसते हुए जीवन-पथ पर आक्रमण करने वाला ही अंत में यशस्वी होता है। तुम्हारा मध्यमार्ग मुझे सदा तुम्हारे समीप खींचता रहता है। कोई हमसे अकड़े तो उसे ठोक देना और काट खाये तो जीभ के टुकड़े टुकड़े कर देना—तुम्हारे इस मत को मैं अग्राह्य नहीं कह सकता। पर सब के लिए एक ही मार्ग का प्रदर्शन उचित नहीं। जितने व्यक्ति होंगे उतने ही उनके मत भी होंगे ही—इसमें किसी का कोई चारा नहीं है। सत्यता के संबंध में तुमने जो कुछ कहा है वह तुम्हारे विचार से

कदाचित् निर्दोष हों; पर मुझे तो वह जँचा नहीं। "प्रतारणा विवाह के समय क्षम्य होती है—यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। स्वार्थ होने पर सत्यता अच्छी लगती है, और कहीं सत्यता ने स्वार्थ-सिद्धि में बाधा पहुंचाई तो असत्य का प्रयोग कर के ही अवसर पर बाजी मार लेजाना ही कुछ व्यक्तियों की नीति होती है। "स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए यदि सत्यता को पृष्ठभूमि में रख दिया जाय तो कोई हानि नहीं" यह मानने वाले अनेक नवयुवक हमारे समाज में हैं। पर केवल इसीलिए मैं तो इस मत का समर्थन नहीं कर सकता।

निःशस्त्रों पर छोड़े हुए शस्त्र यदि उनका नाश करने में समर्थ हुए भी तो उनका छोड़ने वाला सारे भूतल पर कहीं भी वंदनीय न होगा। हिटलर शाही ने अमानवता का अवलंबन कर प्रतिपक्ष के समर-बंदियों को गोली का निशाना बनाकर मरवा डाला। परन्तु इस क्रूरता की—हिटलर शाही की इस अमानवता की—प्रशंसा करने वाला आज इस सारी पृथ्वी पर कोई न होगा। वृक्ष में उत्तम फल आने के लिए उसके मूल में ही उपचार करने पड़ते हैं। इसी प्रकार अहिंसा का बीज मानव-हृदय रूपी उर्वर भूमि में बोया जाता है। वहां की नैसर्गिक सहृदयता रूपी नमी से अंकुरित और पल्लवित बेल जो पुष्प-प्रसवित करेगी वह अपनी सुगंधि का विस्तार त्रैलोक्य में किये बिना न रहेगी। कोई भी सद्वस्तु सहसा प्राप्त नहीं होती। ज्वर का ताप दूर करने के लिये कुनैन की बहुत सी कड़वी घूंटें पीनी पड़ती हैं—एक

बूंद से काम नहीं चलता।

एक ही दिवस जीवित रहने वाला सुंदर पुष्प संसार के आनंद को बढ़ाता है। फिर अशोक, वर्षों जीवित रहने वालों से तो यही आशा की जानी चाहिए कि वे संसार का दुःख दूर करें। जब से मेरे मन में इस भावना का उदय हुआ है तभी से मैं अहिंसा का पुजारी होगया हूँ। अपने में कुछ गुण होने पर ही संसार हमारा गुण-ग्राही होता है। महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा का ध्येय सामने रखकर आज इतने वर्षों से संसार से झगड़ते आरहे हैं तोभी आज उनको कितना यश मिला है? यश अंत रहित है—यही सत्य है और इसीलिए मैंने तुम्हें पहले एक बार कहा भी था—"यश एक महासागर है, इसका अंत कभी किसी ने नहीं पाया है।" परन्तु यश-प्राप्ति के लिए झगड़ते हुए अनेक अनुभव रूपी रत्न, विद्वानों के मत रूपी मोती और उपदेश रूपी सीपियाँ हाथ आती हैं। दूसरी तरफ ठीक इसी प्रकार अपने निजी वैगुण्य रूपी घाव में से मांस के टुकड़े नोचने वाले अनेक जलचर होते हैं।

महात्माजी के संबंध में भी आजतक मैं यही अनुभव करता आया हूँ। इसीलिए वे मेरी दृष्टि में असामान्य पद पर पहुंचे हैं। उन्हीं के मुखारबिंद से प्रतिपादित अनेक शब्दों की मुक्तावलियों का हार मैंने गूंथा है। तुम्हारे गले में बड़े अभिमान से उसे डालने का सुदिन प्राप्त होगा ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है। मेरे ही, क्या संसार के असंख्य नेत्र आजकल के

कदाचित् निर्दोष हों; पर मुझे तो वह जँचा नहीं। "प्रतारणा विवाह के समय क्षम्य होती है—यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। स्वार्थ होने पर सत्यता अच्छी लगती है, और कहीं सत्यता ने स्वार्थ-सिद्धि में बाधा पहुंचाई तो असत्य का प्रयोग कर के ही अवसर पर बाजी मार लेजाना ही कुछ व्यक्तियों की नीति होती है। "स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए यदि सत्यता को पृष्ठभूमि में रख दिया जाय तो कोई हानि नहीं" यह मानने वाले अनेक नवयुवक हमारे समाज में हैं। पर केवल इसीलिए मैं तो इस मत का समर्थन नहीं कर सकता।

निःशस्त्रों पर छोड़े हुए शस्त्र यदि उनका नाश करने में समर्थ हुए भी तो उनका छोड़ने वाला सारे भूतल पर कहीं भी वंदनीय न होगा। हिटलर शाही ने अमानवता का अवलंबन कर प्रतिपक्ष के समर-बंदियों को गोली का निशाना बनाकर मरवा डाला। परन्तु इस क्रूरता की—हिटलर शाही की इस अमानवता की—प्रशंसा करने वाला आज इस सारी पृथ्वी पर कोई न होगा। वृक्ष में उत्तम फल आने के लिए उसके मूल में ही उपचार करने पड़ते हैं। इसी प्रकार अहिंसा का बीज मानव-हृदय रूपी उर्वर भूमि में बोया जाता है। वहां की नैसर्गिक सहृदयता रूपी नमी से अंकुरित और पल्लवित बेल जो पुष्प-प्रसवित करेगी वह अपनी सुगंधि का विस्तार त्रैलोक्य में किये बिना न रहेगी। कोई भी सद्वस्तु सहसा प्राप्त नहीं होती। ज्वर का ताप दूर करने के लिये कुनैन की बहुत सी कड़वी घूंटें पीनी पड़ती हैं—एक

बूंद से काम नहीं चलता।

एक ही दिवस जीवित रहने वाला सुंदर पुष्प संसार के आनंद को बढ़ाता है। फिर अशोक, वर्षों जीवित रहने वालों से तो यही आशा की जानी चाहिए कि वे संसार का दुःख दूर करें। जब से मेरे मन में इस भावना का उदय हुआ है तभी से मैं अहिंसा का पुजारी होगया हूँ। अपने में कुछ गुण होने पर ही संसार हमारा गुण-ग्राही होता है। महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा का ध्येय सामने रखकर आज इतने वर्षों से संसार से झगड़ते आरहे हैं तोभी आज उनको कितना यश मिला है? यश अंत रहित है—यही सत्य है और इसीलिए मैंने तुम्हें पहले एक बार कहा भी था—"यश एक महासागर है, इसका अंत कभी किसी ने नहीं पाया है।" परन्तु यश-प्राप्ति के लिए झगड़ते हुए अनेक अनुभव रूपी रत्न, विद्वानों के मत रूपी मोती और उपदेश रूपी सीपियाँ हाथ आती हैं। दूसरी तरफ ठीक इसी प्रकार अपने निजी वैगुण्य रूपी घाव में से मांस के टुकड़े नोचने वाले अनेक जलचर होते हैं।

महात्माजी के संबंध में भी आजतक मैं यही अनुभव करता आया हूँ। इसीलिए वे मेरी दृष्टि में असामान्य पद पर पहुंचे हैं। उन्हीं के मुखारबिंद से प्रतिपादित अनेक शब्दों की मुक्तावलियों का हार मैंने गूंथा है। तुम्हारे गले में बड़े अभिमान से उसे डालने का सुदिन प्राप्त होगा ऐसा मेरा आत्म-विश्वास है। मेरे ही, क्या संसार के असंख्य नेत्र आजकल के

इस विश्वव्यापी महायुद्ध के परिणाम की ओर उत्सुकता से लगे हुए हैं। क्या यह स्वाभाविक नहीं? अशोक, हजारों वर्षों का इतिहास उसका परिणाम आज ही दिखा रहा है। परन्तु "भविष्य" के प्रचंड उदर में क्या क्या घटनाएँ है यह मैं आज कैसे लिख सकता हूँ? राक्षसी महत्वाकांक्षा का और अमानुषी दुष्टता का अंत आत्मिक-शांति ही है यह इतिहास का कथन है परन्तु—

हिंदुस्तान का प्रश्न संपूर्ण अहिंसा की पहेली से ही हल होता है—प्रतारणा और हिंसा से यह हल होने का नहीं। इस हल न होने वाली पहेली को हल करने के लिए आज एक ही ओर टकटकी लगाए बैठा रहना चाहिए। वह है—"भविष्य"।

अतः भविष्य की ओर टकटकी लगाये बैठा हुआ,

तुम्हारा ही—
विजय कुमार

× × ×

एक पैर विमान के द्वार पर रखे रखे अशोक ने वह पत्र पढ़ा और उसको मोड़कर अपने जेब में रखलिया। वैमानिक का एक पैर स्वर्ग में और एक स्वर्ग के मार्ग पर रहता है। "अपना और देश का आगे क्या होगा" यही प्रश्न उसके मन में आते ही वीरता की एक कृत्रिम हास्य रेखा उसके मुँह पर दिखाई दी। उसने मन ही मन उत्तर दिया—

"भविष्य !!!"

॥ समाप्त ॥